१९६० के बाद की हिन्दी कविता में विद्रोही चेतना

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रस्तुत
शोध प्रबन्ध

शोधकर्ता
श्रीकृष्ण तिवारी

निर्देशिका
डॉ० मालती तिवारी
प्रोफेसर हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

(सन् १९९८-९९)

भूमिका

हिन्दी कविता में आदिकाल से लेकर आजतक विद्रोह की एक लम्बी परम्परा विद्यमान है । सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता का विद्रोह इस परम्परा की नवीनतम कड़ी है । भारत में सन् 1947 से 1960 तक का समय 'नेहरू युग' के रूप में जाना जाता है । इस युग में जो राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक - सांस्कृतिक विसंगतियाँ उभरीं, वे 1960 के बाद और जटिल होती चली गयीं । इन्हीं विसंगतियों की जटिलता के चलते सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता में वस्तु एवं शिल्प के स्तर पर बदलाव आया और उसमें विद्रोह का स्वर प्रबल हो गया ।

' सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता में विद्रोही चेतना " - विषय के अध्ययन के लिए मैंने इस शोध - प्रबन्ध को छः अध्यायों में विभक्त किया है :

1• विद्रोह : अवधारणा एवं स्वरूप

2• हिन्दी कविता में विद्रोही चेतना का विकास

3• सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता : पृष्ठभूमि एवं परिवेश

4• साठोत्तरी हिंदी कविता : राजनीतिक विद्रोह का पर्याय

5• साठोत्तरी हिन्दी कविता का आर्थिक - सामाजिक विद्रोह

6• साठोत्तरी कविता : अभिव्यक्ति के नये आयाम

छठे अध्याय के बाद निष्कर्ष के रूप में उपसंहार है ।

अध्याय एक के अन्तर्गत, विद्रोह के मनोवैज्ञानिक स्वरूप, विद्रोह के अर्थ, क्रान्ति, आक्रोश एवं प्रतिक्रिया से विद्रोह के अन्तर, विद्रोह के कारण, विद्रोह के भेद एवं विद्रोह की सार्थकता पर विचार करते हुए काव्य में विद्रोह की अभिव्यक्ति के स्वरूप का विवेचन किया गया है ।

अध्याय दो में, हिन्दी कविता में आदिकाल से लेकर नयी कविता तक विद्यमान विद्रोह के स्वरूप का संक्षेप में विश्लेषण किया गया है ।

अध्याय तीन में, स्वातन्त्र्योत्तर भारत के विसंगतिग्रस्त राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक - सांस्कृतिक परिदृश्य की समीक्षा की गयी है, जिसने साठोत्तरी कविता को जन्म दिया और जिसके कारण विद्रोह इस कविता की खास प्रवृत्ति बनी ।

अध्याय चार में, साठोत्तरी कविता में निहित राजनीतिक विद्रोह का यथासम्भव विस्तार से विवेचन किया गया है । राजनीति के प्रति इस कविता का विद्रोह अपेक्षाकृत अधिक मुखर एवं व्यापक है । अतः मैंने इस पर अपनी दृष्टि अधिक केन्द्रित रखी है ।

अध्याय पाँच के अन्तर्गत, साठोत्तरी कविता में विद्यमान आर्थिक विसंगतियों, समाज की परम्परागत रूढ़ मान्यताओं एवं पूँजीवादी संस्कृति की शोषणधर्मी गतिविधियों के विरुद्ध विद्रोह पर विचार किया गया है ।

अध्याय छः में साठोत्तरी कविता के शिल्प का विश्लेषण है । इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि परम्परागत काव्यप्रतिमानों को अपनी अनुभूति की सफल अभिव्यक्ति के बाधक समझकर इस दौर के कवियों ने उन्हें अस्वीकारा और उनके विकल्प में अभिव्यक्ति के नये आयामों को अपनाया ।

उपसंहार में पूरे अध्ययन का निष्कर्ष निहित है ।

साठोत्तर कवियों एवं उनकी काव्यरचनाओं की संख्या बहुत अधिक है । अतः यहाँ सबको समेट पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है । मैंने सातवें दशक से लेकर नवें दशक के मध्य तक की कविता तक ही अपने शोध - प्रबन्ध को सीमित रखा है । इस दौर के जिन

कवियों की कविताओं को मैंने अपने शोध का मुख्य आधार बनाया है, वे हैं - नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, केदारनाथ सिंह, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, सुदामा पाण्डेय धूमिल, लीलाधर जगूड़ी , ज्ञानेन्द्रपति, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, आलोकधन्वा, अरुणकमल, उदयप्रकाश, गोरख पाण्डेय । इनके अतिरिक्त अन्य कवियों की कविताओंका भी आवश्यकतानुसार प्रयोग किया गया है ।

यह शोध - प्रबन्ध मेरे पितामह श्री रामनरेश तिवारी, पिता श्री राममूर्ति तिवारी एवं माता श्रीमती राजमती तिवारी के त्याग एवं प्रेरणा का परिणाम है । मैं उनका ऋणी हूँ । यदि उन्होंने मुझे उच्च शिक्षा न दिलायी होती तो मैं आज इस स्थिति तक न पहुँचता ।

मैं,डॉ0 श्रीमती मालती तिवारी प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष हिन्दी विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद का आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे अपने शोध छात्र के रूप में स्वीकार किया, अपने कुशल निर्देशन से बड़ी सहजता के साथ मेरी समस्याओं का समाधान किया और मुझ पर अपना स्नेह बनाये रखा ।

मैं आभारी हूँ, अपनी जीवनसंगिनी सरिता त्रिपाठी का जिन्होंने हठपूर्वक मुझसे शोध - प्रबन्ध लिखवाया । यदि उन्होंने ऐसा न किया होता तो मेरा यह कार्य अभी न पूरा हुआ होता ।

मैं आभारी हूँ, श्री राकेश राजोरिया, अम्बिकापुर {सरगुजा} म0 प्र0 {एवं डॉ0 रामकुमार मिश्र सहायक प्रोफेसर हिन्दी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अम्बिकापुर {सरगुजा} म0 प्र0 का, जिन्होंने शोध कार्य हेतु मुझे पत्र - पत्रिकायें उपलब्ध करायीं । और मैं आभारी हूँ , श्री विजय कुमार गुप्त, संपादक 'साम्य' अम्बिकापुर (सरगुजा) म0 प्र0 का जिन्होंने मुझे शोध हेतु अपनी पत्रिकाएं उपलब्ध करायीं ।
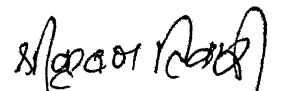
मैं श्री उमाकान्त पाण्डेय, जिन्होंने इलाहाबाद में मुझे शोध कार्य को अन्तिम रूप देने के लिए आश्रय दिया, श्री ओंकार सिंह 'भोला', जिन्होंने राजकीय सी0पी0 आई0 छात्रावास के कक्ष संख्या 68 में मुझे अपने साथ रखकर शोध - प्रबन्ध के पुनरीक्षण में मेरा भरपूर सहयोग किया, श्री विनोद कुमार सिंह हालैण्डहाल छात्रावास इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, जो बड़ी आत्मीयता से मेरे शोध - प्रबन्ध को व्यवस्थित कराने में मेरे साथ लगे रहे तथा अनुज श्री हरिकृष्ण तिवारी, जो मेरा हर सम्भव सहयोग करते रहे, का कृतज्ञ हूँ ।

मैं शासकीय महाविद्यालय कुसमी सरगुजा मध्य प्रदेश के अपने सहकर्मी श्री मनोज कुमार सिन्हा सहायक प्रोफेसर भूगोल एवं प्रभारी प्राचार्य,श्रीमती सुषमा भगत सहायक प्रोफेसर समाजशास्त्र, सुश्री सुनीला इक्का सहायक प्रोफेसर राजनीतिशास्त्र एवं श्री अनिल कुमार चौधरी सहायक प्रोफेसर अर्थशास्त्र का आभारी हूँ जिनके सहयोग से हमारा शोध कार्य निर्बाध रूप से सम्पन्न हुआ ।

श्री उमा शंकर पाल जी का मुझपर आभार है । उन्होंने मेरे शोध - प्रबन्ध का टंकण कार्य बड़ी सहजता एवं सज्जनता से स्वीकार किया और उसे समयबद्ध ढंग से पूरा किया ।

अन्ततः मैं आभारी हूँ अग्रज तुल्य डॉ0 श्री जनार्दन तिवारी व्याख्याता हिन्दी एच0 ए0 एल0 स्कूल लखनऊ का जो मेरे लिए शोध कार्य में प्रेरणास्रोत रहे ।

शोध - प्रबन्ध में रह गयी त्रुटियों के लिए मैं विद्वानों से क्षमा प्रार्थी हूँ और उनका सुझाव शिरोधार्य है । ईश्वर को मैं नतमस्तक हूँ ।

श्रीकृष्ण तिवारी

(श्रीकृष्ण तिवारी)

विषय - सूची

अध्याय - एक

विद्रोह : अवधारणा एवं स्वरूप

'विद्रोह' मूलत: संस्कृत भाषा का पुल्लिंग संज्ञा शब्द है । यह 'वि' उपसर्ग 'द्रुह' धातु एवं 'घञ्' प्रत्यय के योग से {वि + द्रुह + घञ्} संरचित है । इसका अर्थ है - शत्रुतापूर्ण कार्य, देश या राज्य में क्रान्ति करने के लिए किया जाने वाला उपद्रव ।[1] जहाँ तक 'विद्रोही चेतना' शब्द की बात है तो यह 'विद्रोही' एवं चेतना' दो शब्दों के योग से बना है । इसमें 'विद्रोही' शब्द 'विद्रोह' संज्ञा से निर्मित विशेषण शब्द है, जिसका शाब्दिक अर्थ है - विद्रोह करने वाला । 'चेतना' स्त्रीलिंग संज्ञा शब्द है जिसका सामान्य अर्थ बुद्धि एवं ज्ञान है । इस तरह 'विद्रोही चेतना' का शाब्दिक अर्थ हुआ विद्रोह करने वाली बुद्धि, विद्रोह करने वाला ज्ञान, विद्रोह करने वाली समझ ।

विद्रोह : अर्थ एवं स्वरूप :-

विद्रोह किसी व्यवस्था को अस्वीकार करके उसे नष्ट कर देने की एक मन: स्थिति है, जिसका प्रकाशन कायिक क्रियाओं द्वारा होता है । यदि विद्रोह का भाव मन में उत्पन्न हो, लेकिन वह बिना क्रियात्मक रूप धारण किये मन में ही तिरोहित हो जाय, तो न तो उसकी कोई सार्थकता है, और न कोई पहचान । इस प्रकार विद्रोह की दो स्थितियाँ हैं - एक मानसिक और दूसरी कायिक । बिना कायिक स्थिति को प्राप्त किये विद्रोह का स्वरूप पूर्ण नहीं माना जा सकता । विद्रोह की अपनी मन: स्थिति को कोई, साहित्य लिखकर शब्द के माध्यम से व्यक्त करता है, कोई उसे वाणी के माध्यम से प्रस्फुटित करता है और कोई उसे अस्त्र-शस्त्र के सहारे मार

1- संस्कृत हिन्दी कोश - पृ0 482, वामन शिवराम आप्टे ।

काट द्वारा कार्य रूप देता है ।

विद्रोह 'समाजशास्त्र' एवं 'मनोविज्ञान' में परिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है । इसे परिभाषित करने के लिए विद्वानों ने अपनी बुद्धि को काफी कुरेदा है और शाब्दिक व्यायाम भी किया है । लेकिन यहाँ 'विद्रोह' का न तो हमें समाजशास्त्रीय विवेचन करना है और न मनोवैज्ञानिक विश्लेषण । यहाँ हमारा उद्देश्य साहित्य के स्तर पर विद्रोह के सम्बन्ध में एक सहज स्वाभाविक समझ कायम करना है । अतः हमें विद्रोह की जटिल शास्त्रीय परिभाषा में जाने की जरूरत नहीं है । बड़े सहज स्वाभाविक ढंग से हम कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा किसी सत्ता, व्यवस्था, परम्परा रूढ़ि आदि को अस्वीकार और उसे समाप्त करने का प्रयत्न विद्रोह है । व्यवस्था आदि का सम्बन्ध राजनीति, समाज, नैतिकता, धर्म आदि किसी से भी हो सकता है । केवल राजनैतिक सत्ता या व्यवस्था का अस्वीकार, विरोध और उसे समाप्त करने का प्रयत्न मात्र ही विद्रोह नहीं है । वह विद्रोह का केवल एक प्रकार विशेष है । विद्रोह राजनीतिकेतर सत्ताओं एवं व्यवस्थाओं के खिलाफ भी हो सकता है । विद्रोह के लिए उसकी सफलता अनिवार्य नहीं है । प्रत्येक विद्रोह सफल हो तभी हम उसे विद्रोह मानें अन्यथा नहीं, यह ठीक बात नहीं है । अलग-अलग विद्रोह की प्रकृति तीव्रता, कालावधि और परिस्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती है । यह तो हो सकता है कि हम एक प्रकार के विद्रोह को समर्थन दें, दूसरे प्रकार के विद्रोह को समर्थन न दें, किन्तु यह नहीं हो सकता है कि हम एक प्रकार के विद्रोह को विद्रोह मानें, दूसरे प्रकार के विद्रोह को विद्रोह न माने ।"[1]

1- आधुनिक बोध और विद्रोह - पृ0 9, डॉ0 हरदयाल ।

विद्रोह की मन:स्थिति आकस्मिक रूप से निर्मित नहीं होती । इसके पीछे मनोदशाओं की एक लम्बी शृंखला विद्यमान रहती है । विद्रोह के मूल में असन्तोष का भाव होता है, जो किसी भी व्यवस्था के प्रति उसकी अनुपयुक्तता, अतार्किकता एवं अमानवीयता के कारण उत्पन्न होता है । यही स्थिति 'मोहभंग' को जन्म देती है । असन्तोष से मन में अमर्ष, आक्रोश, क्रोध एवं बैर का भाव पनपता है । किसी व्यवस्था के प्रति इन मनोदशाओं में पहुँचा हुआ व्यक्ति उस व्यवस्था के विरुद्ध विरोध, अस्वीकार या निषेध की नीति अपनाता है । वह उस व्यवस्था को ध्वस्त करना चाहता है और उसे नष्ट करने के विचार, उसे उखाड़ फेंकने की उत्तेजना एवं नवनिर्माण की चेतना से उसका मन भर जाता है । यही विद्रोह की मन:स्थिति है, विद्रोह का सूक्ष्म, मानसिक या अव्यक्त रूप है । विद्रोह की इस मन:स्थिति का प्रस्फुटन जब गतिविधि के रूप में होता है तो विद्रोह मूर्त रूप धारण करता है । यह गतिविधि वैचारिक या सशस्त्र आक्रमण के रूप में हो सकती है ।

असन्तोष मन में अमर्ष, आक्रोश, क्रोध, बैर, विरोध, अस्वीकार आदि भावों को जागृत करता हुआ विद्रोह की स्थिति निर्मित करता है । लेकिन असन्तोष एवं इन भावों को विद्रोह मानने की भूल नहीं करनी चाहिए । ये विद्रोह-पूर्व विभिन्न मनोदशायें हैं और विद्रोह की मन: स्थिति में ये सब सूक्ष्म एवं संश्लिष्ट रूप से निहित रहते हैं । असन्तोष किसी व्यवस्था में उत्पन्न अनैतिकता के कारण उस व्यवस्था के प्रति मन की अन्यमनस्कता का भाव है, उस व्यवस्था से मन की संगति न बैठने की स्थिति है । असन्तोष से ही अमर्ष, आक्रोश आदि भाव पनपते हैं । "अमर्ष क्रोध की प्रथम या असफल दशा होती है । खीझ से मिलती जुलती मानसिक स्थिति को अमर्ष कहा जाता है । ------ - - - - - जिस प्रकार क्रोध की दीर्घकालीनता से बैर या

शत्रुता का भाव बनता है उसी प्रकार अमर्ष की मात्रा बढ़ने पर आक्रोश और आक्रोश के जमने पर क्रोध बनता है। अमर्ष और आक्रोश में व्यक्ति अपनी प्रतिक्रिया अपने तक सीमित न रखकर उसे प्रकट करने लगता है किन्तु अमर्ष या आक्रोश में व्यक्ति प्रतिपक्ष के विरूद्ध प्रहार के लिए सन्नद्ध हो यह आवश्यक नहीं है। यदि प्रतिपक्ष प्रबल है तो आक्रोशी व्यक्ति अपनी खीझ या तीक्ष्णता प्रकट कर या तो अपने में सिकुड़ कर शान्त हो जाता है या फिर आक्रोश की भन्नाहट में कुछ समय तक उत्तेजित बना रहता है। अमर्ष की दशा से वही व्यक्ति क्रोध की मनोगति में पहुँचता है जो उत्तेजित स्थिति में आत्मरक्षात्मक भीतरी शिकंजे की उपेक्षा कर मरने-मारने को तैयार हो जाता है। - - - - - - - युद्ध सर्वदा क्रोध की अवस्था में होता है - अमर्ष एवं आक्रोश की दशा में नहीं, क्योंकि ये क्रोध के संवेग हैं।"[1]

आक्रोश एवं विद्रोह में अन्तर है जिसे स्पष्ट करते हुए प्रो० मंजु अग्रवाल ने लिखा है "आक्रोश और विद्रोह में अन्तर होता है। क्रुद्ध व्यक्ति प्रचलित प्रथा से चिढ़ा होता है, उस पर प्रहार करता है, किन्तु उसका क्रोध निष्फल एवं दिशाहीन होता है। नीत्से ने ऐसे लोगों की प्रतिक्रिया को रिवेलियन न कह कर - रिजेन्टी - मेन्ट - कहा है। शीलर ने आक्रोश के तीन स्तर बताये हैं :- घृणा का भाव, ईर्ष्या एवं आक्रामक रुख। आक्रोश व्यक्ति या समाज के आक्राम्य तत्वों के प्रति अपने मनो - भावों को सक्रिय रूप में व्यक्त करने की क्षमता का अभाव तथा निरन्तर अपने नपुंसक क्रोध को अनुभव करके बड़बड़ाते रहने की प्रवृत्ति है। विद्रोही क्रोध करता है, पर अपनी नपुंसकता और लाचारी को वैचारिक जामा पहनाकर सन्तुष्ट नहीं होता।

1- समकालीन कविता की भूमिका - पृ0 35-36, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ।

आक्रोश मूल्यहीन होता है,जबकि विद्रोह मूल्य सम्बद्ध । विद्रोही निरर्थक मूल्यों से टकराता है और उन्हें तोड़कर नये मूल्य प्रतिष्ठित करना चाहता है । क्रुद्ध व्यक्ति अंगूर खट्टे हैं कह कर अपनी कुढ़न व्यक्त करता रहता है, जबकि विद्रोह अंगूर के बारे में प्रचलित स्वाद को ही गलत कहता है और उसकी जगह स्वाद का नया मानदण्ड रखना चाहता है ।"[1] विद्रोह एवं आक्रोश के मध्य विद्यमान मौलिक अन्तर को अल्बेयर कामू ने बड़ी स्पष्टता से निरूपित किया है । उनका मत है कि विद्रोह धनात्मक होता है और आक्रोश निषेधात्मक, आक्रोश में विद्वेष की प्रधानता रहती है, जबकि विद्रोह में स्वाधिकार संरक्षण का भाव प्रबल होता है, विद्वेष का भाव गौण । तात्पर्य आक्रोशी के मन में उन वस्तुओं के प्रति विद्वेष का भाव पैदा होता है, जो उसके पास नहीं है, जबकि विद्रोही के मन में, जो वस्तु उसकी है, उसे मिलनी चाहिए, उसके ऊपर अधिकार प्राप्त करने की चेतना होती है । आक्रोश में व्यक्ति के कल्याण मात्र की भावना रहती है जबकि विद्रोह में मनुष्य मात्र के हित की समझ रहती है, आक्रोश में दूसरों से तादात्म्य आवश्यक नहीं है, जबकि दूसरों से तादात्म्य विद्रोह के लिए आवश्यक है ।[2]

अस्वीकार का अर्थ 'न मानना' है,किसी स्थिति का निषेध या विरोध करना है । अस्वीकार, विद्रोह की तीन स्थिति - अस्वीकार, विनाश एवं निर्मिति - में से पहली स्थिति है । विद्रोह के अन्तर्गत किसी व्यवस्था को पहले अस्वीकारा जाता है, फिर उसको ध्वस्त किया जाता है और फिर नवनिर्माण की बात की जाती है ।

1- धूमिल : काव्य यात्रा - पृ0 23-24, प्रो0 मंजु अग्रवाल ।

2- व्यक्तित्ववाद - कीर्केगार्ड से कामू तक - पृ0 186, योगेन्द्र शाही ।

बिना अस्वीकार के ध्वंस और निर्माण की बात नहीं आ सकती है। अस्वीकार प्राय: तीन कारणों से होता है। प्रथम कारण अनुपयुक्तता एवं जड़ता है। जब कोई विचार या व्यवस्था समय की दृष्टि से अनुपयुक्त हो जाती है, उसकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है और उसमें जड़ता आ जाती है, तो व्यक्ति उसे अस्वीकार करने लगता है। दूसरा कारण नवीनता के प्रति आकर्षण है। व्यक्ति जब किसी नवीन विचार या व्यवस्था के प्रति आकर्षित होता है, तो पुरानी व्यवस्था को अस्वीकार देता है। तीसरा कारण प्रदर्शन की प्रवृत्ति है। कभी-कभी व्यक्ति बिना किसी विचार, तर्क एवं चिन्तन के केवल आत्मप्रदर्शन की भावना से भी किसी बात को अस्वीकार करता है। अस्वीकार की यह प्रवृत्ति घातक है, अराजकता को उत्पन्न करने वाली है।

विद्रोह 'प्रतिक्रिया' से भी भिन्न है। दोनों में अन्तर स्पष्ट करते हुए रजनीश ने कहा है - "मैं मानता हूँ कि रियेक्शनरी कभी भी ठीक अर्थों में रिवेलियन नहीं हो सकता है। प्रतिक्रियावादी जो सिर्फ प्रतिक्रिया कर रहा है, वह समाज से उल्टा हो जाता है। तुम ऐसे कपड़े पहनते हो तो हम ऐसे पहनेंगें। तुम स्वच्छता से रहते हो हम गन्दगी से रहेंगे। तुम ऐसे हो हम उल्टा चलेंगे। लेकिन उल्टा जाना विद्रोह नहीं है, प्रतिक्रिया है। - - - - - - - - विद्रोह की बड़ी कीमत है - - - प्रतिक्रिया की कोई कीमत नहीं है। विद्रोह एक मूल्य है लेकिन प्रतिक्रिया एक रोग है। - - - - - - - प्रतिक्रियावादी हमेशा उससे बँधा रहता है, जिसकी वह प्रतिक्रिया कर रहा है। - - - - - - प्रतिक्रिया के परिणाम खतरनाक है। प्रतिक्रिया ज्यादा स्थायी नहीं होती। सिर्फ संक्रमण की बात होती है। विद्रोह है विवेक और प्रतिक्रिया है अविवेक। एक विद्रोही आदमी इसलिए 'नहीं' नही कहता,

कि 'नहीं' कहना चाहिए । अगर 'नहीं' कहना चाहिए इसलिए कोई नहीं कहता है, तो यह हाँ हुजूरी है । - - - - - - वह नहीं इसलिए कहता है, कि उसे लगता है 'नहीं' कहना उचित है । और अगर उसे लगता है कि हाँ कहना उचित है तो दस हजार नहीं कहने वालों के बीच में भी वह हाँ कहेगा । विद्रोह अनिवार्य रूप से विवेक है और प्रतिक्रिया अविवेक है ।"[1]

विद्रोह एवं क्रान्ति में भी अन्तर है । क्रान्ति का अर्थ है किसी व्यवस्था में आमूल परिवर्तन । क्रान्ति एक सामूहिक प्रक्रिया होती है, जिसका लक्ष्य शोषक-पीड़क व्यवस्थाको जड़ से उखाड़कर सर्वथा नवीन व्यवस्था का निर्माण होता है । क्रान्ति कभी व्यक्तिगत नहीं होती है । वह सामूहिक जनशक्ति पर आधारित होती है । जनशक्ति की सामूहिकता ही किसी व्यवस्था को समग्रता से नष्ट करके नयी व्यवस्था स्थापित करने में सक्षम हो पाती है । जहाँ तक विद्रोह की बात है, तो वह सामूहिक एवं वैयक्तिक दोनों हो सकता है, लेकिन दोनों का लक्ष्य सार्वजनिक कल्याण ही रहता है । यह अलग बात है, कि वैयक्तिक विद्रोह में वैयक्तिक हित रहता है, लेकिन उसके द्वारा सार्वजनिक हित भी सधता है । विद्रोह व्यवस्था के अन्दर ही होता है । जबकिसी व्यवस्था के कुछ तत्त्व किसी भी कारण जनहित में बाधा उत्पन्न करने लगते हैं, तो उनके प्रति विद्रोह होता है । उन तत्त्वों को नष्ट करके व्यवस्था को संशोधित किया जाता है । "विद्रोह विकास गति की अवधि में उपजे अन्तर्विरोध के प्रति ही हो सकता है ।"[2] विद्रोह निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है । क्रान्ति के द्वारा यदि

1- विद्रोह क्या है ? पृ0 25, संकलन-स्वामी योग चिन्मय - जबलपुर विश्वविद्यालय में 21 मार्च 1969 को हिप्पी विद्रोह पर रजनीश द्वारा दिया गया व्याख्यान ।

2- समकालीन कविता की भूमिका - पृ0 41, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ।

कोई नयी व्यवस्था स्थापित कर दी जाती है,तो वह सदैव निर्विवाद नहीं रहती । स्वार्थी तत्त्व उस व्यवस्था में विसंगतियाँ उत्पन्न करते रहते हैं, फलत: विद्रोह होता रहता है । विद्रोह एवं क्रान्ति को प्राय: एक ही समझा जाना स्वाभाविक है, क्योंकि दोनों में व्यापकता का ही अन्तर है, कोई वर्गगत अन्तर नहीं । हम कह सकते हैं कि क्रान्ति एक व्यापक विद्रोह है । एक व्यापक समूह जब व्यवस्था के किसी अंग के प्रति नहीं बल्कि पूरी व्यवस्थाके प्रति विद्रोह करता है और उसे समाप्त करके नयी व्यवस्था कायम करता है,तो उसे क्रान्ति कहते हैं । लेकिन विद्रोह के साथ ऐसा नहीं है कि जिस व्यवस्था की जिस विसंगति के प्रति विद्रोह किया जाय, वह समाप्त ही हो जाय और उसके स्थान पर संगति आ ही जाय । लेकिन क्रान्ति में परिवर्तन होता है, यदि परिवर्तन नहीं हुआ तो क्रान्ति कैसी ? विद्रोह एवं क्रान्ति को ज्यादा दूर तक एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता ।

विचारकों ने विद्रोह को क्रान्ति की अपेक्षा ज्यादा बेहतर माना है और उसको ज्यादा समर्थन भी दिया है । अपनी पुस्तक 'दि रिबेल' में कामू ने कहा है कि क्रान्ति के द्वारा जब अपेक्षाकृत एक मानवीय व्यवस्था स्थापित हो जाती है तो क्रान्ति -कारी उस व्यवस्था का हिस्सा बन जाता है । उसकी भूमिका और चरित्र बदल जाता है । वह क्रान्तिकारी न रहकर व्यवस्थापक हो जाता है । सोवियत रूस का उदाहरण देते हुए कामू ने लिखा है कि लेनिन के समय के सोवियत रूस में क्रान्तिकारियों ने जारशाही के विरुद्ध विद्रोह किया था । लेकिन नयी व्यवस्था स्थापित हो जाने पर वे व्यवस्थापक हो गये और उस व्यवस्था में आयी विसंगतियों की खिलाफत करने वाले बुखारिन आदि को उन्होंने समाप्त कर दिया । विद्रोह को क्रान्ति की अपेक्षा बेहतर बताते हुए रजनीश ने लिखा है -'बगावत आत्मा का जन्म है । - - - -

असल में हजारों साल में कितनी क्रान्तियाँ हो चुकीं, लेकिन सब क्रान्तियाँ असफल हो गयीं । - - - - - - - - सब क्रान्तियाँ असफल हो गयीं, क्योंकि क्रान्ति सफल हो ही नहीं सकती । सफल हो सकता है, केवल अनियोजित विद्रोह । 1917 की क्रान्ति भी असफल हो गयी, क्योंकि एक जार को मारा और दूसरा जार उसकी जगह बैठ गया । सिर्फ नाम बदल गया है । स्टेलिन हो गया है उसका नाम, वह दूसरा जार है । किसी जार ने इतने आदमी न मारे थे । - - - - - कोई क्रान्ति सफल न हो पायी, न हो पाने का कारण है । एक तो यह कि क्रान्ति के उपकरण बड़े गैर क्रान्तिकारी होते हैं । बड़े दकियानूस होते हैं । दूसरा यह कि क्रान्ति वस्तुत: प्रतिक्रियात्मक होती है । उसके प्राण उसी में होते हैं जिससे कि वह लड़ती है । फिर इसलिए शत्रु के मरते ही उसके होने का कोई कारण नहीं रह जाता । - - - - - - - क्रान्तियाँ जब सफल होती हैं तब पता चलता है कि सब व्यर्थ हो गया । जब तक सफल नहीं होती, तब तक तो लगता है, बहुत कुछ हो रहा है, फिर एकदम व्यर्थ हो जाती है ।"[1]

संक्षेप में, हम कह सकते हैं, कि किसी व्यवस्था की अमानवीयता क्रूरता, शोषण, अनुपयुक्तता आदि के कारण उसके प्रति मन में असन्तोष उत्पन्न होता है, जिसके फलस्वरूप मन में अमर्ष, क्रोध, आक्रोश, बैर आदि भाव पनपने लगते हैं, जिससे व्यक्ति उस व्यवस्था को, वैचारिक या क्रियात्मक स्तर पर, जैसा भी सम्भव हो, अस्वीकार करने लगता है, उसे ध्वस्त करता है और उसके स्थान पर नवनिर्माण की दिशा में प्रयास करता है, यही विद्रोह है । असन्तोष, अमर्ष, क्रोध, आक्रोश, बैर तथा अस्वीकार, विध्वंश एवं नवनिर्माण का भाव - ये सब अपने आप में भिन्न-भिन्न मनोदशाएँ हैं । विद्रोह की

1- विद्रोह क्या है ? - पृ0 16-17; सं0 स्वामीयोग चिन्मय ।

मन: स्थिति में ये सब सूक्ष्म रूप से समाहित रहते हैं ।' इन सब की अनुपस्थिति में विद्रोह की मन:स्थिति बन ही नहीं सकती है ।

विद्रोह के कारण :-

विद्रोह का भाव मनुष्य में जन्म से नहीं रहता । उसकी चेतना, उसकी सोच समझ जन्मजात विद्रोही नहीं होती, परिवेश एवं परिस्थितियाँ ही विद्रोह को जन्म देती हैं । "विद्रोह की चेतना अन्यायपूर्ण और आततायी स्थिति के सामने पड़ने पर जगती है । मनुष्य जब दासता की मनोवृत्ति से उबरने के लिए प्रयत्नशील होता है और समानता की मनोभूमि पर अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर संघर्षरत होता है, तभी विद्रोह की नींव पड़ती है । अधिकारों के प्रति सजगता, संघर्षशील प्रवृत्ति और मुक्ति कामना विद्रोह की आधारभूत विशेषताएं हैं ।"[1] विद्रोह के मूल में असन्तोष का भाव विद्यमान रहता है और वही विभिन्न मनोदशाओं को जन्म देता हुआ तथा उनसे संम्पृक्त होता हुआ विद्रोह के रूप में फूट पड़ता है । लेकिन हर असन्तोष विद्रोह नहीं बन पाता है, उसके लिए कुछ कारकों की आवश्यकता होती है । अत: असन्तोष उत्पन्न करने वाले एवं उसे बल देकर विद्रोह की स्थिति तक पहुँचाने वाले कारक ही विद्रोह के कारण है । यदि विद्रोह के कारणों पर सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो उन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है - {1} आन्तरिक कारण {2} बाह्य कारण । बिना इन दोनों कारणों के सहयोग के विद्रोह की स्थिति नहीं बन सकती है । आन्तरिक कारण से तात्पर्य, विद्रोह करने वाले व्यक्ति या विद्रोह करने वाले जनसमुदाय की सोच समझ या वैचारिक प्रगतिशीलता से है, जिसे हम आधुनिक बोध भी कह सकते हैं । बाह्य कारण

1- विद्रोह और साहित्य - पृ0 17, सं0 नरेन्द्रमोहन, देवेन्द्र इस्सर ।

से तात्पर्य, उस परिवेश से है, जिसमें व्यक्ति रहता है । व्यक्ति या व्यक्ति समूह में असन्तोष परिवेश जन्य विसंगतियों के कारण उत्पन्न होता है । लेकिन वैचारिक प्रगतिशीलता के अभाव में परिवेश की विसंगतियाँ, न तो असन्तोष उत्पन्न कर सकती है और न असन्तोष विद्रोह की स्थिति तक पहुँच सकता है ।

1- आन्तरिक कारण :-

विद्रोह की प्रक्रिया में आन्तरिक कारणों की अहम् भूमिका होती है । आन्तरिक कारण यानी 'आधुनिक बोध' के अभाव में, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक विसंगति जैसे बाह्य कारणों की उपस्थिति में भी विद्रोह नहीं हो सकता है । आधुनिक-बोध व्यक्ति में जीवन की विसंगतियों की समझ पैदा करता है, वह उसके विरुद्ध उसमें चिन्ता एवं असन्तोष उत्पन्न करता है तथा असन्तोष को विद्रोह की परिणति तक ले जाता है । प्रश्न उठता है कि 'आधुनिक बोध' है क्या ? "डॉ० धर्मवीर भारती ने आधुनिक बोध को संकट बोध माना है, डॉ० रघुवंश ने इसे असम्पृक्त यथार्थ दृष्टि के रूप में आँका है, डॉ० नामवर सिंह कभी इसे एक प्रक्रिया के रूप में तो कभी एक मूल्य के रूप में खोज निकालते हैं, अज्ञेय इसे सापेक्षवाद में आँकते हैं । केदारनाथ अग्रवाल ने आधुनिकता को खण्डित मानव मन की खण्डित मनोदशा की खण्डित अभिव्यक्ति बताया है ।"[1]

'आधुनिक' शब्द कालवाचक शब्द है जिसका अर्थ है - नया । यानी आधुनिक बोध 'नया बोध' है । लेकिन आज जो कुछ नया है वह कल समय की दृष्टि से पुराना हो जायेगा । इसलिए यदि 'आधुनिक बोध' को 'वर्तमान बोध' समकालीन बोध'

1- माध्यम - जुलाई 1965, पृ0 5 ।

परिवेश बोध के रूप में समझा जाय तो बात ज्यादा स्पष्ट होगी । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'आधुनिक बोध' वह 'बोध है जो व्यक्ति को रूढ़ियों, अंधविश्वासों, निरर्थक नैतिकताओं एवं अनुशासनों तथा अतार्किक-अवैज्ञानिक विचारों से मुक्त करके उसे उसके परिवेश से सम्पृक्त एवं वर्तमान तथा पर्यावरण के प्रति सजग रखता है । लेकिन हमें आधुनिकता को परम्परा के परित्याग के रूप में समझने की भूल नहीं करनी चाहिए । डॉ0 नगेन्द्र के शब्दों में "आधुनिक दृष्टि, परम्परा को प्रवाह के रूप में स्वीकार करती है, जो निरन्तर अग्रसर रहता है और जिसमें परिवर्तन अनिवार्य है । जीर्ण-पुरातन के त्याग, संशोधन तथा पुनर्मूल्यांकन की पद्धति से नव-नव रूपों के विकास की आकांक्षा, वैचित्र्य एवं नवीनता के प्रति आकर्षण आधुनिकता के सहज अंग है । अतः रूढ़ियों के प्रति विद्रोह और नवजीवन के विकास के लिए प्रयोग के प्रति आग्रह यहाँ अनिवार्य है ।" कहने का तात्पर्य, आधुनिकबोध में परम्परा की तार्किक समझ एवं परिवेश के प्रति सजगता, दोनों का समावेश है ।

परिवेश के प्रति सजगता व्यक्ति के बुद्धि मन्थन का परिणाम है । उसने अपनी बौद्धिक क्षमता द्वारा सामाजिक एवं प्राकृतिक विषयों पर गम्भीरता से सोचा; और समाज शास्त्र, राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, प्राणि विज्ञान, खगोलशास्त्र, भूगर्भ शास्त्र जैसे विषयों को खड़ा किया । इन विषयों के अन्तर्गत उसने अनेक अनुसंधान किये । परिणामस्वरूप उसने पाया कि समाज में फैली ढेर सारी मान्यताएँ, नैतिकताएँ व विश्वास—खोखले, अतार्किक, अवैज्ञानिक एवं अनुपयोगी हैं । धर्म, ईश्वर एवं परम्परा के नाम पर पूरे तन्त्र में शोषण फैला हुआ है । यहाँ दैवी कुछ नहीं है; सब कुछ भौतिक है । व्यक्ति की सुख-सम्पन्नता, उसके पूर्व जन्म का फल नहीं है । वह अपनी शक्ति द्वारा उसे प्राप्त कर सकता है । कहने का तात्पर्य

'आधुनिक बोध' हमें स्थिति की यथार्थता एवं उसकी वास्तविकता का ज्ञान कराता है, उसके प्रति हमें सजग करता है । जब हम किसी वस्तु , मान्यता, मूल्य एवं परम्परा की यथार्थता के बारे में अन्त में यह समझ जाते हैं, कि वह व्यर्थ निरर्थक एवं असत्य है, तो हम उसके प्रभाव में नहीं आते, उसे अस्वीकार करने लगते हैं, उसकी खिलाफत या विद्रोह करने लगते हैं । समझ, सजगता एवं ज्ञान से ही विद्रोह का भाव फूटता है । "आधुनिक संवेदना' एक प्रकार की अग्रगामिता है जो आधुनिक संवेदना से सम्पन्न व्यक्ति या व्यक्ति समूह में यथा स्थिति का विरोध करने के लिए, उसे बदलने के लिए उकसाती है ।"[1] 'आधुनिक बोध' यानी परिवेश के प्रति सजगता से मुक्त व्यक्ति, किसी काल विशेष में ही नहीं होते । ऐसे व्यक्ति हर काल में मिलते हैं । इसी लिए विद्रोह हर समय चलता रहता है । इतिहास की दृष्टि से कबीर मध्यकालीन थे, लेकिन उनमें परिवेश के प्रति सजगता थी । यही कारण है, कि उन्होंने अंध मान्यताओं के प्रति विद्रोह किया है ।

इस विश्लेषण से स्पष्ट होता है, कि आधुनिक बोध के अन्तर्गत तार्किकता, वैज्ञानिक चिन्तन, स्वाधिकार बोध, मानवतावादी दृष्टि, न्यायबोध एवं साहस को रखा जा सकता है । इन सब को हम 'वैचारिक प्रगतिशीलता', 'आधुनिक बोध' या 'वर्तमान बोध' कह सकते हैं । इसी कसौटी पर हम परिवेश के परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थाओं पारस्परिक मूल्यों तथा मान्यताओं को कसते हैं और उनके अनौचित्य को अस्वीकार करते हैं । 'तार्किक एवं वैज्ञानिक चिन्तन' विद्रोह के लिए बहुत ही आवश्यक है । इसके माध्यम से ही व्यक्ति किसी विचारधारा की उपयोगिता, अनुपयोगिता और वर्तमान

1- आधुनिक बोध और विद्रोह - पृ0 12, डॉ0 हरदयाल ।

स्थिति में उसकी आवश्यकता पर विचार करता है। उसके अनुकूल न होने पर, उसे वह अस्वीकार करता है और उसके स्थान पर आज की स्थिति में जरूरी विचारों को स्थापित करता है।

'स्वाधिकार बोध' द्वारा व्यक्ति यह समझता है, कि अमुक वस्तु पर मेरा भी या मेरा ही अधिकार है। एक विशेष वर्ग मुझे मेरे अधिकार से वंचित करके मेरा शोषण कर रहा है। एक विशेष परम्परा हमारी स्वच्छन्दता में बाधक बन रही है। अपने स्वच्छन्द विकास एवं अधिकार के लिए हमें ऐसी परम्परा एवं व्यवस्था को उखाड़ फेंकना चाहिए। स्वाधिकार बोध एवं तार्किक-वैज्ञानिक चिन्तन के अभाव में तो व्यक्ति शोषण एवं अपनी दुर्गति को अपना भाग्य समझ कर जीवन बिताता रहता है।

'साहस' का अर्थ है 'हिम्मत', विसंगति के विरूद्ध आवाज उठानें, उसके खिलाफ अपने को खड़ा कर देने का उत्साह। बिना साहस के किसी भी स्थिति में विद्रोह सम्भव नहीं है। साहसहीनता, कायरता की स्थिति होती है। कायर व्यक्ति सारे अत्याचार को सह लेता है, लेकिन वह उसकी खिलाफत नहीं कर पाता है। तार्किक-वैज्ञानिक चिन्तन एवं स्वाधिकार बोध के द्वारा व्यक्ति व्यवस्था की सारी खामियों एवं उसमें समाहित अनैतिकताओं को भली-भांति समझ सकता है और उसके मन में आक्रोश, क्रोध असन्तोष का भाव भी आ सकता है। लेकिन बिना साहस के वह अपने इन भावों को सार्वजनिक करते हुए व्यवस्था के विरोध में अपने को स्थापित नहीं कर सकता है।

कभी-कभी ऐसे लोग भी व्यवस्था की विसंगतियों के विरूद्ध विद्रोह कर देते हैं, जो स्वयं उनसे पीड़ित नहीं रहते, लेकिन उनकी तार्किक वैज्ञानिक सोच, न्यायमूल बुद्धि मानवतावादी दृष्टि पीड़ितों-शोषितों के प्रति उनके मन को संवेदित कर देती है। उनका मन असन्तोष एवं आक्रोश से भर जाता है. और वे शोषकों एवं उनकी नीतियों,

अमानवीय एवं अन्यायमूलक-परम्पराओं, मान्यताओं तथा व्यवस्थाओं के विरूद्ध विद्रोह के लिए तत्पर हो जाते हैं। लेकिन यहाँ भी विद्रोह के लिए साहस की आवश्यकता होती है। शोषितों एवं पीड़ितों के प्रति तो बहुत लोग संवेदित होते हैं और उनका मन आक्रोश, रोष, क्रोध से भर भी जाता है। लेकिन सभी लोग उनके पक्ष में खड़े होकर उनके हित में व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह का ऐलान नहीं कर पाते। ऐसा वे ही कर पाते हैं जिनमें साहस रहता है।

हम किसी भी साहित्य में देखें,तो पायेंगे कि उसमें विद्रोह का जो स्वर है वह आधुनिक बोध से निकला है। उदाहरण के लिए हम हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि आदि कालीन सिद्धों-नाथों एवं भक्ति कालीन कबीर तथा अन्य भक्त कवियों द्वारा जाति-पाँति, छुआ-छूत, आडम्बर, अंधविश्वास तथा मुल्ला एवं पण्डितों के छद्म आचरण के प्रति किया गया विद्रोह उनके 'आधुनिक बोध' का ही परिणाम है। आधुनिक काल में भारतेन्दु युगीन तथा द्विवेदी युगीन कवियों ने ब्रिटिश सत्ता के अन्याय एवं अत्याचार, उसके द्वारा किये जा रहे आर्थिक शोषण तथा भारतीय समाज में व्याप्त ऊँच - नीच, छुआ छूत, नारी शोषण, बाल विवाह आदि कुप्रथाओं के प्रति जो विद्रोही रूख अख्तियार किया है; छायावादी कवियों ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य में बाधक सामाजिक मूल्यों, एवं साम्राज्यवाद तथा पूँजीवाद के विरूद्ध विद्रोह का जो भाव व्यक्त किया है; प्रगतिवाद नें पूँजीवादी शोषण या किसीभी तरहके शोषणके खिलाफ जो आवाज उठाई है ; प्रयोगवादी कवियों ने यौन स्वच्छन्दता के प्रति अपना समर्थन व्यक्त करके यौन सम्बन्धों के इर्द-गिर्द लिपटी पारम्परिक नैतिक मान्यताओं का जो खण्डन किया है ; साठोत्तरी कविता में स्वातन्त्र्योत्तर शासन व्यवस्था में पनपे अन्याय, भ्रष्टाचार, आदि का जो खुलासा किया गया है - इन सबके मूल में आधुनिक बोध या वैचारिक प्रगतिशीलता ही है

बाह्य कारण :-
============

विद्रोह के बाह्यकारणों को हम सामान्यत: तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं - §1§ राजनैतिक, §2§ आर्थिक, §3§ सामाजिक - सांस्कृतिक । किसी भी देश का आन्तरिक स्वरूप राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्थाओं से निर्मित होता है और वहाँ की जनता का जीवन इन्हीं तीन व्यवस्थाओं के अन्दर व्यवस्थित एवं सुखमय रह सकता है । लेकिन जब इनमें अव्यवस्था उत्पन्न होती है और अनैतिकता आने लगती है, व्यवस्था के नियम समय एवं परिस्थिति के अनुसार अपनी उपयोगिता नहीं सिद्ध कर पाते हैं; उसमें जड़ता एवं गतिहीनता आ जाती है; व्यक्ति का स्वच्छन्द विकास वाधित होने लगता है तो लोगों में व्यवस्था के प्रति असन्तोष एवं आक्रोश का भाव पनपता है और वे विद्रोह के लिए तत्पर हो उठते हैं ।

1- राजनैतिक कारण :-
==============

किसी भी काल में देश के जनजीवन को वहाँ की राजनीति ने काफी प्रभावित किया है । देश का सर्वांगीण विकास वहाँ की राजनीति की सत्यनिष्ठता एवं उसके जनवादी चिन्तन पर ही आधारित होता है । इतिहास में देखा जा सकता है कि जब शासक वर्ग उदार,न्यायप्रिय एवं जनकल्याण की भावना से युक्त रहा है तब देश हर तरह से संरक्षित एवं समृद्ध हुआ है और वहाँ की जनता एवं बुद्धिजीवियों का उसे भरपूर समर्थन भी मिला है । लेकिन जब जनता सत्ता के भ्रष्टाचार एवं अत्याचार के कुचक्र मे पिसी है तब उसमें असन्तोष उत्पन्न हुआ है और कभी-कभी असन्तोष सशस्त्र विद्रोह की स्थिति में भी पहुँचा है । साहित्यकारों एवं विचारकों ने भी राजनीति या सत्ता के विरुद्ध अपना वैचारिक विद्रोह अपनी रचनाओं में व्यक्त किया है । हिन्दी के भरतेन्दु युगीन, द्विवेदी युगीन, छायावादी रचनाओं में सत्ता के अत्याचार के कारण

विद्रोह का एक तीखा स्वर उभरा है ।

2- आर्थिक कारण :-

जहाँ तक विद्रोह के आर्थिक कारणों का प्रश्न है तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस भौतिक जगत में अर्थ की अपनी अहम भूमिका है । जीवन के हर पहलू, हर संबंध अर्थ पर ही आधारित है । भोजन, वस्त्र, मकान, चिकित्सा, शिक्षा - जैसी मूलभूत आवश्यकतायें बिना अर्थ के नहीं सध सकतीं । समाज में विद्यमान वर्ग-भेद भी आर्थिक सम्बन्धों पर आधारित है । जिन व्यक्तियों के पास अर्थ की प्रचुरता है;वे विलासिता के साथ जीवन यापन करते हैं । समाज के इसी वर्ग का उत्पादन एवं वितरण की सारी प्रणालियों पर अधिकार होता है । यह समाज का शोषकवर्ग होता है । जो लोग जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को या तो पूरा नहीं कर पाते या बड़ी मुश्किल से पूरा कर पाते हैं, वे समाज के शोषित वर्ग के लोग होते हैं । शोषक वर्ग शोषित वर्ग का निरन्तर शोषण करता है । वह उसे उठने नहीं देना चाहता,क्योंकि ऐसा करने में ही उसका हित रहता है । जब शोषित वर्ग की स्थिति बदतर हो जाती है, असहनीय हो जाती है तो वह शोषक वर्ग एवं उसका हित साधने वाली अर्थ व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह करने के लिए विवश हो जाता है, क्योंकि अपना अस्तित्व बचाने के लिए विद्रोह ही उसके पास एक साधन होता है । पूरा प्रगतिवादी, प्रगतिशील या मार्क्सवादी साहित्य शोषकों एवं शोषक अर्थ व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह की चेतना से युक्त है । आर्थिक कारणों से प्रेरित विद्रोह जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है विलासिता के साधनों को जुटाने के लिए नहीं ।

3- सामाजिक सांस्कृतिक कारण :-

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह जिस समाज में रहता है उसकी अपनी एक

व्यवस्था होती है, उसके कुछ नियम होते हैं और उसकी कुछ सांस्कृतिक मान्यताएं, परम्परायें एवं नैतिक मूल्य होते हैं । इन्हें अनुपयोगी तो नहीं कहा जा सकता, लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि इनकी उपयोगिता सार्वकालिक नहीं होती है । उनमें समयानुसार तार्किक एवं वैज्ञानिक ढंग से परिवर्तन होते रहना चाहिए । यदि ऐसा नहीं होता तो उसमें सड़ांध उत्पन्न हो जाती है और वे रूढ़ि का रूप ले लेते हैं । समाज में गतिहीनता आ जाती है, जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व दब जाता है, उसका विकास बाधित हो जाता है । वह समय के साथ कदम मिलाकर नहीं चल पाता । ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो जाता है कि विकास में बाधक तथा युग की दृष्टि से अतार्किक एवं अवैज्ञानिक मान्यताओं को अस्वीकार किया जाय, उनके विरूद्ध आवाज उठाई जाय और उनमें संशोधन करके या उन्हें समाप्त करके युगसंगत मूल्य की स्थापना की जाय । 19 वीं शताब्दी के सांस्कृतिक जागरण में यही सब हुआ है । पुनर्जागरण से प्रभावित भारतेन्दु युगीन द्विवेदी युगीन एवं छायावादी कविताओं में निहित विद्रोह का स्वर समाज एवं धर्म में व्याप्त जड़ता एवं रूढ़ि के भी विरूद्ध है । इस काल के कवियों ने जाति-व्यवस्था छुआ-छूत, विवाह-सम्बन्ध, नारी-शोषण एवं ईश्वर सम्बन्धी पारम्परिक अंध धारणाओं पर तीखा प्रहार किया है । सिद्धों, नाथों तथा कबीर जैसे सन्त कवियों का विद्रोह सामाजिक सांस्कृतिक विसंगतियों का ही परिणाम है ।

विद्रोह के प्रकार :-

विद्रोह को हम - क्रिया विधि, व्यापकता एवं क्षेत्र - इन तीन आधारों पर वर्गीकृत कर सकते हैं ।

§क§ क्रियाविधि के आधार पर :-

क्रियाविधि से तात्पर्य कार्यप्रणाली यानी कार्य करने के ढंग से है । विद्रोह का क्रियात्मक रूप दो तरह का है - §1§ वैचारिक, §2§ सशस्त्र । जब किसी व्यवस्था की विसंगतियों एवं अनैतिकताओं के प्रति अस्वीकारका भाव व्यक्त किया जाता है, उसे समाप्त करके नयी व्यवस्था स्थापित करने की बात कही जाती है, उस व्यवस्था के अप्रासंगिक होने, अनुपयोगी होने तथा अवैज्ञानिक होने का तर्क दिया जाता है तो उसे वैचारिक विद्रोह कहते हैं । साहित्य का सम्बन्ध वैचारिक विद्रोह से ही है । यह विद्रोह परिवर्तन या बदलाव का मूल है । बिना इसके कहीं किसी प्रकार की नवीनता नहीं आ सकती, क्योंकि विचार से ही सब कुछ होता है । विचार के बिना कार्य सम्भव नहीं है । वैचारिक विद्रोह व्यक्ति को कार्य की दिशा में प्रेरितकरता है ।

जब व्यवस्था की विसंगति को समाप्त करने के लिए एवं उसके पोषकों को नष्ट करने के लिए मारपीट तोड़ फोड़ एवं आक्रामक रुख अख्तियार किया जाता है तो उसे सशस्त्र विद्रोह कहते हैं । सशस्त्र विद्रोह के मूलमेवैचारिक विद्रोह ही होता है । आज तक जितने भी सशस्त्र विद्रोह हुए हैं, वे सब वैचारिक विद्रोह से ही प्रेरित रहे हैं । सच्चाई यह है कि बिना वैचारिक विद्रोह के सशस्त्र विद्रोह सम्भव नहीं है ।

§ख§ व्याप्ति के आधार पर :-

विद्रोह की व्याप्ति या विद्रोह करने वालों के परिमाण को ध्यान में रखकर विद्रोह को हम - वैयक्ति एवं सामूहिक - दो रूपों में विभक्त कर सकते हैं । जब व्यक्ति वैयक्तिक स्तर पर व्यवस्था की विसंगतियों, पारम्परिक रूढ़ मान्यताओं आदि को उखाड़ फेंकता है, तो उसे वैयक्तिकविद्रोह कहते हैं । यदि वैयक्तिकविद्रोह स्वार्थ प्रेरित है, तो

सामान्य के हित में बाधक है,तो उसका कोई मूल्य नहीं है । वह विद्रोह नहीं अराजकता है । लेकिन यदि विद्रोह वैयक्तिक होते हुए भी जनसामान्य के हित में बाधक नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में उसका संरक्षक है,तो वह मूल्यवान है । वैयक्तिक विद्रोह धीरे-धीरे सामूहिक विद्रोह का भी रूप ले सकता है । छायावादी काव्य में प्राय: वैयक्तिक विद्रोह के स्वर निहित हैं ।

जब व्यक्तियों का समूह किसी व्यवस्था, किसी मान्यता तथा किसी परम्परा को अस्वीकार करता है और उसे नष्ट करके उसके स्थान पर किसी दूसरी मान्यता या व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयास करता है,तो वह सामूहिक विद्रोह कहलाता है । भारतेन्दु युगीन, द्विवेदी युगीन तथा प्रगतिवादी कविता में सामूहिक विद्रोह का ही स्वर है ।

§ग§ विषय या क्षेत्र के आधार पर :-

मनुष्य का जीवन-राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सांस्कृतिक - इन तीन अवस्थाओं से घिरा हुआ है । उसके जीवन के ये ही तीन क्षेत्र या विषय है । वह इन्हीं क्षेत्रों में कार्य करता हुआ, इन्हीं का अध्ययन करता हुआ तथा इन्हीं में अपने सुख की तलाश करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता है । जीवन की विकास यात्रा के दौरान उसे जिस व्यवस्था का जो पहलू अनुपयुक्त एवं विकास में बाधक प्रतीत होता है, उसको वह अस्वीकार करता है, उसका विरोध एवं खण्डन करता है और नये मूल्यों तथा विचारों को स्थापित करने का प्रयास करता है । इस तरह विषय या क्षेत्र के आधार पर विद्रोह को §क§ राजनीतिक §ख§ आर्थिक §ग§ सामाजिक सांस्कृतिक - इन तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं ।

राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक संस्था, राजनीतिक मान्यता, शासन द्वारा किये जा रहे शोषण तथा शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार या अनैतिकता आदि के विरूद्ध आवाज उठाना, उसका पर्दाफाश करना राजनीतिक विद्रोह है । राजनीतिक विद्रोह राजनीतिक कारणों से ही होता है । यदि हिन्दी साहित्य पर दृष्टि डाली जाय, तो उसमें राजनीतिक विद्रोह सर्वप्रथम भारतेन्दु युग में दिखायी पड़ता है । उसके बाद तो 'राजनीतिक विद्रोह' विद्रोह का पर्याय बन गया है । किसी भी काल की रचना में ‡ भारतेन्दु युग के बाद की ‡ राजनीति के विरूद्ध ही सर्वाधिक विद्रोह के स्वर उभरे हैं ।

आर्थिक विषमता, आर्थिक शोषण, मँहगाई, गरीबी, बेरोजगारी एवं अर्थ - व्यवस्था के जनविरोधी चरित्र के विरूद्ध किया गया विद्रोह 'आर्थिक विद्रोह' कहलाता है । 'आर्थिक विद्रोह' आर्थिक कारणों से होता है । यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि आर्थिक विद्रोह भी प्राय: राजनीति या सत्ता के प्रति विद्रोह है । यह आर्थिक कारणों से किया गया राजनीतिक विद्रोह है । पूरी 'अर्थ व्यवस्था' राजनीति से ही नियन्त्रित होती है । जनजीवन की आर्थिक विसंगतियों के लिए शासन ही जिम्मेदार होता है । उसकी नीति की असफलतायें ही उसे उत्पन्न करती हैं । हिन्दी साहित्य में आर्थिक विद्रोह के स्वर भी सर्वप्रथम भारतेन्दु युग में ही सुनायी पड़ते हैं । ब्रिटिश सत्ता द्वारा किये जा रहे आर्थिक शोषण के विरूद्ध इस युग के कवियों ने जो स्वर उठाया है वह आर्थिक विद्रोह का ही स्वर है । भारतेन्दु युग के बाद भी कवियों ने अपनी कविताओं में आर्थिक विसंगतियों के विरूद्ध विद्रोह का स्वर उठाया है ।

जो विद्रोह सामाजिक सांस्कृतिक रूढ़ियों, अन्ध मान्यताओं एवं मूल्यों के प्रति किया जाता है, उसे 'सामाजिक सांस्कृतिक विद्रोह' कहते हैं। समय-समय पर जाति-प्रथा, छुआ-छूत एवं ऊँच-नीच की मान्यता, यौन-सम्बन्ध, विवाह-सम्बन्ध, नारी-शोषण, बाल-विवाह, सती-प्रथा, धार्मिक-आडम्बर, अंध-विश्वास; धर्माचार्यों द्वारा किये जाने वाले शोषण आदि के विरूद्ध जो स्वर उठाये गये हैं वे सामाजिक सांस्कृतिक विद्रोह ही हैं। हिन्दी कविता की शुरूआत ही इसी विद्रोह से हुई है। हिन्दी के आदि कवि 'सरहपा' की कविता में जाति व्यवस्था एवं धार्मिक आडम्बर के विरूद्ध तीखा स्वर विद्यमान है। कबीर ने तो आडम्बर पूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं की जमकर खिलाफत की है। भारतेन्दु युगीन तथा परवर्ती कविताओं में भी धर्म एवं समाज की अंध मान्यताओं पर तीखा प्रहार हुआ है।

समझने की सुविधा के लिए विद्रोह का वर्गीकरण भले कर लिया जाय, लेकिन वास्तविकता यह है कि विद्रोह के वर्गभेद एक दूसरे से अलग नहीं हैं, वे परस्पर मिले हुए हैं। वैचारिक विद्रोह वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों तरह के होते हैं। ठीक इसी तरह सशस्त्र विद्रोह भी सामूहिक एवं वैयक्तिक हो सकता है। राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक विद्रोह भी "वैयक्तिक वैचारिक, "सामूहिक वैचारिक" तथा "वैयक्तिक सशस्त्र", "सामूहिक सशस्त्र' हो सकते हैं।

विद्रोह की सार्थकता :-

कोई 'विद्रोह' अन्तिम विद्रोह नहीं होता। वह निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। ऐसा नहीं हो सकता कि विद्रोह किसी समाज से पूर्णतः समाप्त हो जाय, क्योंकि कितनी भी जनहितकारी व्यवस्था क्यों न बन जाय, लेकिन वह पूर्ण नहीं हो सकती है। एक समय के बाद उसके कुछ तत्त्व अनुपयोगी होने लगते हैं, उसमें त्रुटियाँ उत्पन्न होने

लगती हैं, भ्रष्टाचार पनपने लगता है और विकृतियाँ आने लगती हैं। फलत: व्यक्ति का व्यक्तित्व दबने लगता है, व्यवस्था व्यक्ति के विकास में बाधक होने लगती है। व्यवस्था की सार्थकता व्यक्ति के विकास में सहयोगी होने में निहित है। यदि वह उसके विकास के सहायक न होकर बाधक हो जाती है,तो उसमें संशोधन या परिवर्तन जरूरी हो जाता है। लेकिन किसी चिराचरित व्यवस्था में यह कार्य कर पाना आसान नहीं होता। ऐसा करने के लिए विद्रोह करना पड़ता है। लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या विद्रोह के निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया होने, किसी व्यवस्था के पूर्ण न होने और उसके व्यक्ति के विकास में बाधक होने के आधार पर किसी स्थापित व्यवस्था के प्रति किये गये विद्रोह को तार्किक एवं सार्थक माना जा सकता है? यदि विद्रोह स्वार्थपूर्ति के लिए किया गया है, व्यवस्था को आत्मलाभ के लिए नकारा गया है,तो वह तार्किक नहीं हो सकता है। विद्रोह की तार्किकता एवं सार्थकता उसके बहुजनहिताय या लोकमंगलकारी होने में ही निहित है। यदि तात्कालिक रूप में अपने हित के लिए किये गये विद्रोह से जनसामान्य को न्याय मिलता है,तो बहुजनहिताय या 'लोकमंगल' का भाव उसमें प्रच्छन्न माना जा सकता है। "विद्रोह का रूप व्यवस्था बनाम जनता के हित को ध्यान में रख कर तय किया जाना चाहिए। सभी प्रकार की व्यवस्थाओं, मर्यादाओं, अनुशासनों और अंकुशों का अन्ध विरोध व्यक्तिवादी विद्रोह कहलायेगा।- - - - - - - व्यवस्था मात्रअपने अस्तित्व के लिए व्यक्ति को किसी-न-किसी अंश तक दबाती है, उसे पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं देती। व्यवस्था की यह प्रकृति ही है, क्योंकि व्यक्तियों को दी गई मनमानी की छूट की दशा में कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।"[1] मनमानी

1- समकालीन कविता की भूमिका - पृ0 41, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

स्वतंत्रता नहीं उच्छृंखलता है। व्यवस्था में किसी के लिए स्वतन्त्रता इतनी ही होनी चाहिए कि उसका स्वच्छन्द विकास तो हो, लेकिन उसकी स्वतन्त्रता से। दूसरे का विकास बाधित न हो। मनमानी छूट पाने के लिए किसी व्यवस्था के विरुद्ध किया गया विद्रोह न तार्किक है न सार्थक। किसी व्यवस्था के प्रति पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर उसमें कमियां ही देखते रहना उचित नहीं है। "अवरोध और संकटों के विरुद्ध संघर्ष आवश्यक है, किन्तु इसके लिए केवल कमियों को देखकर, दूसरे ध्रुव पर जाकर पूर्ण निषेध की पुकार विद्रोह में संयम के अभाव की द्योतक है।"[1]

लोक-मंगल के बजाय आत्म-मंगल पर आधारित विद्रोह अराजकता या व्यवस्था-हीनता की स्थिति उत्पन्न करता है। लेकिन व्यवस्थाहीन समाज या व्यक्ति की कल्पना असम्भव है। यह अराजकता लूट-खसोट, अपहरण, अत्याचार और मूल्यहीनता की स्थिति होगी। अतः प्रत्येक स्थापित व्यवस्था का विरोध सिर्फ इस रूप में जायज माना जा सकता है कि यदि वह जनविरोधी है तो उसका सम्पूर्ण विरोध ही विद्रोह है। और यदि व्यवस्था जनवादी है तो उसका सम्पूर्ण विरोध न केवल असंगत होगा बल्कि बहुजन घातक होगा और जनहित के विरुद्ध यदि विद्रोह करता है तो वह द्रोह है, विद्रोह नहीं।[2] विद्रोह की अराजकतावादी व्याख्या उसे मूल्यहीनता की कगार पर खड़ी कर देती है और उसकी सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगा देती है। अतः जरूरी है कि विद्रोह को अराजकतावादी सोच से मुक्त रखा जाय और उसे जनसामान्य के हित से जोड़ कर देखा जाय। "विद्रोह एक मूल्य के

1- समकालीन सिद्धान्त और साहित्य - पृ0 24, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ।

2- समकालीन कविता की भूमिका - पृ0 41, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय

रूप में और एक कारगर हथियार के रूप में तभी इस्तेमाल हो सकता है अगर इसे जीवन की यथार्थ स्थितियों की संगति में रख कर प्रयुक्त किया जाये।"[1] अराजकतावादी सोच पर आधारित विद्रोह के मूल में कोई ठोस तार्किक विचार नहीं होता है, अत: उससे सामाजिक हित की आशा नहीं की जा सकती। "विद्रोह जब वैचारिक स्तर पर टिका हुआ होगा तभी उससे कोईकारगर सामाजिक भूमिका सध पायेगी।"[2]

इस विश्लेषण के बाद हम संक्षेप में कह सकेते हैं कि वही विद्रोह सार्थक, तार्किक एवं औचित्यपूर्ण है, जो जनसामान्य के हित की भावना से प्रेरित है। यदि वह स्वार्थ से प्रेरित है, तो समाज के लिए या जनसामान्य के लिए घातक है। अत: वह सार्थक एवं उपयोगी नहीं है।

साहित्य में विद्रोह की अभिव्यक्ति का स्वरूप :-

साहित्य में व्यक्त विद्रोह एक वैचारिक विद्रोह होता है। व्यवस्था के विरूद्ध अपने विद्रोही विचारों की अभिव्यक्ति साहित्यकार कई रूपों में करता है। उसके विद्रोही स्वर कभी 'यथार्थ चित्र' के रूप में व्यक्त होते हैं, तो कभी 'अस्वीकार' के रूप में, कभी 'विध्वंस' के रूप में प्रकट होते हैं, तो कभी 'नवनिर्माण' एवं 'व्यंग्य' के रूप में। कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्यकार स्थिति, परिस्थिति, आवश्यकता एवं अपनी मन: स्थिति के अनुसार अपने विद्रोही विचारों को भिन्न - भिन्न ढंग से प्रस्तुत करता है।

1- विद्रोह और साहित्य - पृ0 18, डॉ0 देवेन्द्र इस्सर।

2- समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य - पृ0 67, मदन गुलाटी।

किसी व्यवस्था की विसंगति, उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार, अनैतिकता, शोषण अन्याय, एवं अमानवीयता का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके उसके छद्म रूप को बेनकाब कर देना उस व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह करना ही है। जब साहित्यकार व्यवस्था-जन्य शोषण से ऊब जाता है तो वह उसके यथार्थ को अपनी रचना में प्रस्तुत करते हुए अपने को उसके विरूद्ध एक प्रकार से खड़ा करता है। अपने यथार्थ चित्रणके माध्यम से वह व्यवस्था के आततायी चरित्र के विरूद्ध जनता में एक तार्किक एवं ठोस समझ पैदा करता है तथा उसके मन में पनपे व्यवस्था विरोधी विचारों को दृढ़ करके उसे व्यवस्था के विरूद्ध हो जाने के लिए प्रेरित करता है। साहित्यकार का यथार्थबोध, युगबोध जितना व्यापक होगा और उसकी यथार्थ दृष्टि जितनी पैनी होगी, उसका 'यथार्थ चित्रण' के रूप में व्यक्त विद्रोह उतना ही विशद एवं प्रभावकारी होगा। निम्न कविता में 'यथार्थ केचित्रण' के माध्यम से विद्रोह की बड़ी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है :

"आखिर क्या दिया है तुमने
आजादी के नाम पर
लूप और लाटरी
जनता को बूट से कुचलती पुलिस और भ्रष्ट अफसर
भूख आगजनी
रिश्वत, हत्या, लूट, गिरहकटी
काले कानून, झूठी अदालतें, बहुरूपिया शासन
अभाव विवशता और गुलामी
तुमने हर आदमी को जानवर और हर औरत को वेश्या बना दिया है।"[1]

1- सुबह होने से पहले - पृ0 84, सव्यसाची ।

"जब बाप मरा तब यह पाया

भूखे किसान के बेटे ने

घर का मलबा, टूटी खटिया

कुछ हाथ भूमि - वह भी परती

चमरौधे जूता का तल्ला

छोटी, टूटी बुढ़िया औगी

दरगी गोरसी

बहता हुक्का

लोहे की पत्ती का चिमटा।"[1]

उक्त दो कविताओं में से पहली कविता में राजनीति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत है और दूसरी में एक कृषक की आर्थिक बदहाली का। ये दोनों चित्र बड़े ही प्रभावकारी एवं कवि के व्यवस्था के विरुद्ध रुख को व्यक्त करने वाले हैं और पाठक को भी विसंगतियों का साक्षात्कार कराने में समर्थ है।

'अस्वीकारात्मक' रूप में प्रकट विद्रोह में व्यवस्था को सीधे-सीधे न मानने का विचार निहित रहता है। कवि या लेखक उसकी अनुपयोगिता, अन्यायिकता, एवं अमानवीयता को सिद्ध करने के लिए तार्किक एवं भावात्मक विचार प्रस्तुत करते हुए उसके निषेध के लिए स्वयं तत्पर रहता है और अन्य लोगों को भी उत्प्रेरित करता है। व्यवस्था को अस्वीकार करने के पक्ष में उसके विचार जितने तार्किक एवं भावात्मक होंगे, वह उतने ही प्रभावकारी एवं सशक्त ढंग से विद्रोह व्यक्त करने में समर्थ होगा।

1- फूल नहीं रंग बोलते हैं - पृ0 42 शीर्षक, पैतृक सम्पत्ति - केदारनाथ अग्रवाल।

टाँग दो सूली पे मुझको खाल मेरी खींच लो,

दम निकलते तक सुनो हुंकार वन्देमातरम् ।

देश से हमको निकालो भेज दो यमलोक को,

जीत ले संसार को गुंजार बन्देमातरम ।[1]

हरिराम पुजारी की उक्त कविता में व्यक्त विद्रोह अस्वीकार के रूप में है। वे ब्रिटिश व्यवस्था को किसी भी तरह स्वीकार करना नहीं चाहते । हर परिस्थिति एवं संघर्ष का सामना करके वे बन्देमातरम् का उद्घोष करने के लिए तत्पर हैं ।

'विध्वंसात्मक' रूप में प्रस्तुत विद्रोही स्वर में व्यवस्था के विरुद्ध एक ललकार रहती है, उसे नष्ट कर देने की चेतना रहती है और उसके विरुद्ध सीधी कार्यवाही का भाव रहता है । कवि या लेखक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देना चाहता है । उसमें गुरिल्ला चेतना बड़ी प्रबल रहती है । यथा -

'मंजूर आ । किसान आ । वतन के नौजवान आ

- - - - - - - ---- - - - - - - -- - -

कुबह की हथेली से, जिसने तुमको काट रखा है

दिलों की बस्तियों को साजिशों में बाँट रखा है

सड़क पर खींच ला कि उसको सबक सिखा दे तू

शहीद बन के इन्कलाब का दिया दिखा दे तू ।'[2]

1- स्वतन्त्रता की झंकार - प्रथम भाग - हरिराम पुजारी, पृ0 12

2- अवकाश 4, पृ0 71 - श्रीराम शलभ ।

श्रीराम शलभ की उक्त कविता में पूँजीवादी व्यवस्था के विरूद्ध किसानों मजदूरों को लामबन्द करने की कोशिश है। इस लामबन्दी का उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था को विध्वंस करना है। शोषण में लिप्त पूँजीवादी ताकतों को श्रीराम शलभ सड़क पर खींच लाने के लिए कृषकों को प्रेरित करते हैं, क्योंकि बिना उनको ध्वस्त किये किसान मजदूरों की 'सुबह की रोशनी' न तो वापस हो सकती है और न दिलों की बस्तियाँ आबाद हो सकती हैं। कारण यह है कि पूँजीवादी ताकतों ने ही उन्हे सुबह की रोशनी से काट रखा है और उनके दिलों को साजिशों में बाँट रखा है। जबतक रोशनी से काटने एवं दिलों को बाटने की प्रक्रिया में पूँजीवादी ताकतें सफल रहेगी तब तक शोषण से विमुक्ति सम्भव नहीं है। 'रोशनी से काटना' एवं 'दिलों को बाटना' ही शोषण का नुस्खा है।

'नवनिमाणि' विद्रोह की तार्किक परिणति है। नवनिर्माण के लिए स्वयं तत्पर रहना और लोगों को उसके लिए प्रेरित करना विद्रोह का सूचक है क्योंकि किसी व्यवस्था के अन्तर्गत कोई नवनिमाणि किसी पुरानिमाणि के विरूद्ध ही होता है। व्यवस्था को बिना अस्वीकार किये, उसका बिना विध्वंस किये, नवनिर्मिति सम्भव नहीं होती है। कवि या लेखक जब नव निर्माण की बात करता है, उससे सम्बन्धित विचार व्यक्त करता है, तो उसके चिन्तन के मूल में विद्रोह का ही भाव रहता है। यह दूसरी बात है कि प्रत्यक्ष रूप से उसमें विद्रोह की झलक न दिखायी पड़े।

"फिर उठो फिर क्रान्ति की ज्वाला जलाओ,
छोड़ यह पथ 'दान' और विधान का तुम
राष्ट्र का इतिहास फिर उज्ज्वल बनाओ
स्वत्व का संघर्ष का बलिदान का तुम।" – गीत – महेन्द्र विशाल भारत
मार्च 1944, पृ0 189

उक्त कविता में विद्रोह का भाव है लेकिन वह नवनिर्माण की प्रेरणा के रूप में व्यक्त हुआ है । लेकिन इसमें ध्वंश का भाव भी छिपा हुआ है । क्रान्ति की ज्वाला जलाने की बात ध्वंस को ही सूचित करती है । जहाँ नवनिर्माण की बात की जाती है वहाँ ध्वंस का भाव प्राय: छिपा रहता है ।

'व्यंग्य' विद्रोही विचारों की अभिव्यक्ति का सफल एवं सशक्त ढंग है । इसमें विद्रोही विचार सीधे प्रकट न होकर वक्रता या भंगिमा के साथ प्रकट होते हैं । कथन की भंगिमा या वक्रता विद्रोही विचारों को और तीखा बना देती है । कवि या लेखक अपना सारा आक्रोश, विरोध, अस्वीकार या विध्वंश का भाव बड़े चुटीले ढंग से व्यक्त कर देता है । व्यंग्य - सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक,राजनीतिक विसंगति या किसी व्यक्ति विशेष के उपर भी हो सकता है । व्यंग्य पर्दाफाश करने के लिए होता ही है । यथा :

"गेरूआ पहनते जयप्रकाश नर्मदा किनारे बस जाते
डाँगे हो जाते राज्यपाल लोहिया जेल में बलखाते ।
गोपालन होते नजरबन्द राजाजी माथा घुटवाते
जनसंघी अटल बिहारी जी भिक्षा की झोली फैलाते ।
चौड़ा होता कुछ भाल और
तुम रह जाते दस साल और
मिलवाले होते सोशलिस्ट, धनपतियों को लेनिन भाता
माओ आकर मिलता तुमसे पेकिंग दिल्ली से शर्माता "
"हम चावल लाते एक किलो दस का दे आते नोट मगर
यों सिकुड़े रहते, सपने में सिलवाते ऊनी कोट मगर

गालियाँ छकती, बैलों की जोड़ी को देते वोट मगर

हम गाँजा ही बेंचा करते लेते खादी की ओट मगर

खुलते खिलते कुछ गाल और

तुम रह जाते दस साल और ।"[1]

उक्त कविता में नागार्जुन ने व्यंग्य के माध्यम से अपने विद्रोही स्वर को व्यक्त किया है । इस कविता में उन्होंने नेहरू की कार्यप्रणाली, कार्यशैली और राजनीतिक गतिविधि तथा आर्थिक सोच के प्रति व्यंग्यात्मक ढंग से अपना अस्वीकार भाव व्यक्त किया है ।

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि विद्रोह की मन: स्थिति वैचारिक या सशस्त्र रूप में प्रकट होती है । विद्रोह के मूल में असन्तोष एवं मोहभंग का भाव होता है । जब कोई व्यवस्था व्यक्ति को पीड़ित करने लगती है तो उसके मन में असन्तोष का भाव पनपता है,जिससे मन रोष, अमर्ष, आक्रोश, क्रोध,बैर आदि मनोदशाओं से युक्त हो जाता है और फिर वह उस व्यवस्था के प्रति अस्वीकार ध्वंस आदि भावों से युक्त होना ही विद्रोह की मनोदशा है । यही मनोदशा क्रियात्मक विद्रोह के रूप में प्रस्फुटित होती है । सामान्यत: हम कह सकते हैं कि असन्तोष ही विभिन्न मनोदशाओं को उत्पन्न करता हुआ और उनको अपने में समेटता हुआ विद्रोह के रूप में फूटता है । विद्रोह का मूल कारण 'आधुनिक बोध' है जिसके अभाव में बाह्य परिस्थितियों के रहते हुए भी विद्रोह की स्थिति नहीं बन सकती । विद्रोह के वैयक्तिक, सामूहिक, वैचारिक, सशस्त्र, सामाजिक, आर्थिक, राजनीति आदि भेद हो सकते हैं । उसी

1- नागार्जुन - चुनी हुई रचनाएँ, भाग - 2, पृ0 163

विद्रोह को तर्क संगत एवं सार्थक माना जा सकता है जो जनसामान्य के हित में किया गया हो । स्वार्थ से प्रेरित होकर तथा जनसामान्य के हित को नजरन्दाज करके किया गया विद्रोह अराजकता की स्थिति उत्पन्न करता है । वह किसी तरह से हितकर नहीं होता । साहित्य में विद्रोही विचारों की अभिव्यक्ति सामान्यत: यथार्थ चित्रण, अस्वीकार, विध्वंस, नवनिर्माण एवं व्यंग्य के रूप में होती है ।

अध्याय - दो

हिन्दी कविता में विद्रोही चेतना का विकास

जीवन की विसंगतियों से जूझने, मानवीय मूल्यों का समर्थन करने और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में तार्किक दृष्टि अपनाने में ही साहित्य की सार्थकता है . और ऐसा करने के लिए साहित्यकार को रूढ़ियों एवं अन्ध मान्यताओं को नकारना पड़ता है, उससे विद्रोह करना पड़ता है । विद्रोह, मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के सड़े गले अंश को उखाड़ फेंकने की चेतना एवं ऊर्जा प्रदान करने वाले विचारों से युक्त होता है । जहाँ तक हिन्दी कविता की बात है, तो उसमें आदिकाल से ही विद्रोह के स्वर विद्यमान हैं और रीतिकाल को छोड़ दिया जाय,तो विद्रोह की गूँज प्रत्येक काल की कविता में सुनाई पड़ती है । यह बात अलग है कि विद्रोह का स्वरूप भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न है । किसी काल की कविता में विद्रोह का स्वर अधिक तीखा है तो किसी में कम, किसी काल में वह व्यापक है तो किसी में सीमित ।

आदिकालीन काव्य में विद्रोह का स्वरूप :-

हिन्दी कविता में विद्रोह का स्वर सर्वप्रथम आदिकाल में सिद्धों की कविता में सुनाई पड़ता है । हिन्दू समाज की सामन्ती व्यवस्था तथा हिन्दू धर्म के आडम्बर एवं कर्मकाण्ड के प्रति उन्होंने तीखा विद्रोह व्यक्त किया है । उनके विद्रोही विचार तत्कालीन परिस्थितियों में काफी प्रगतिशील रहे हैं । हिन्दी कविता में प्रगतिशील विचारों की शुरूआत सिद्धों की कविता से ही होती है । "सिद्ध कवि वर्ण भेद एवं ब्राह्मणों की सर्वोपरिता को नहीं मानते हैं । धर्म के सारे बाह्य आचार उन्हें पसंद नहीं हैं । मन्त्र एवं देवता उनके लिए बेकार हैं ।"[1] सिद्धों का विद्रोहलोक-जीवन

1- हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - पृ0 39, रामरतन भटनागर

को जकड़ने एवं उनके शोषण में निरन्तर रहने वाली सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था के प्रति था । इनके विद्रोह में लोकमत की अभिव्यक्ति है । "इस लोकमत में उस ब्राह्मणवाद के प्रति - जो सर्जनात्मक लोक चेतना के सहज विकास में बाधक हो रहा था, जो जातिवाद के नाम पर उच्चपदाभिषिक्त था, जो बिना शारीरिक श्रम के परान्नोपजीवी हो रहा था, जो निर्जीव विधि-निषेध में अपने को विजड़ित करता जा रहा था और जिसको चाहता उसे पृथक घोषित करता जा रहा था - घोर विद्रोह था । - - - - - - - - यह विद्रोह कभी ब्राह्मणवाद का खण्डन उसके श्रुति स्मृति सम्मत वर्णाश्रमवादी सामाजिक ढाँचे के विरोध द्वारा करता था, तो कभी स्वयं को सच्चा ब्राह्मण कहकर ।"[1]

सरहपा ब्राह्मणों एवं उनकी आडम्बरपूर्ण धार्मिक साधनाओं के प्रति विद्रोही स्वर में कहते हैं - ब्राह्मण उसका भेद नहीं जानते हैं, उन्होंने व्यर्थ में चारों वेदों को पढ़ा है । मिट्टी, पानी कुश लेकर, वे कुछ पढ़ते हैं, घर में बैठ कर अग्नि में हवन करते हैं । होम से धुआँ निकलता है, कड़वे धुएं में आँख को डुबाना व्यर्थ है ।

"ब्रम्हणसिम म जाणन्त हि भेउ
एवइ पठियउ ए चउवेउ
मट्टि पाणि कुस लई पठन्त
घर ही बइसी अग्नि हुणन्त
कज्जे विरहइ हु अवह होमे
अक्खि डहाविअ कड़एं धुएं ।"

1- आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका - पृ0 228, डॉ0 राम - मूर्ति त्रिपाठी ।

सरहपा आगे कहते हैं कि नंगा होने से मुक्ति होती है तो कुत्ते, सियार मुक्त क्यों नहीं हो जाते ? पिच्छि (चोटी) धारण करने से मुक्ति हो तो मोर के भी चमर है । सरहपा का विद्रोही तेवर कबीर के विद्रोही तेवर से कम तीखा नहीं कहा जा सकता । सरहपा की ही तरह अन्य सिद्धों डोम्भिपा, लुइपा, कुक्कुरिया, शबरपा, कण्हपा तथा नाथ कवियों की कविताओं में भी विद्रोह की चेतना विद्यमान है ।

सिद्धों एवं नाथों के विद्रोह का क्षेत्र सीमित है । उन्होंने ब्राह्मणवादी व्यवस्था एवं धार्मिक आडम्बर के प्रति ही विद्रोह किया है । उनका यह विद्रोह सामाजिक धरातल पर पक्षपातपूर्ण व्यवस्था से मुक्ति की कामना से युक्त है । उन्होंने आर्थिक एवं राजनैतिक विसंगतियों के प्रति विद्रोह नहीं किया है । इसका कारण सम्भवत: यह है कि उस समय तक राजनीति जनसामान्य की पहुँच के बाहर की चीज थी और उनके जीवन की गतिविधियों में उसका कोई खास दखल भी नहीं था । आर्थिक समस्यायें तत्कालीन समाज एवं धर्म की सामन्ती व्यवस्था से सम्बन्धित थी । सब मिलाकर सामाजिक एवं धार्मिक तन्त्र ही लोगों के जीवन को सीधे प्रभावित करते थे । अत: उन्होंने उसके प्रति ही विद्रोह किया है । उनका विद्रोह खण्डनपरक है । सिद्धों एवं नाथों ने रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के प्रति जिस विद्रोह खण्डन एवं अस्वीकार की शुरूआत की, वह भक्ति कालके सन्त कवियों की कविता में काफी पुष्ट एवं परिष्कृत हुआ है । लेकिन "कबीर के पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगों की आक्रामक उक्तियों में एक प्रकार की हीन भावना की ग्रंथि पायी जाती है; वे मानो लोमड़ी के खट्टे अंगूरों की प्रतिध्वनि हैं, मानो चिलम न पा सकने वालों के आक्रोश हैं ।"[1]

1- कबीर -- पृ0 165, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

2- भक्ति आन्दोलन एवं भक्ति काव्य:विद्रोह का सकारात्मक स्वरूप :-

(क) भक्ति आन्दोलन - भक्ति-भावना के तत्त्व तो वेदों एवं उपनिषदों में भी मिलते हैं, लेकिन उसे आन्दोलन का रूप देने का श्रेय तमिल प्रदेश के आलवार भक्तों को ही है। इनका समय ईसा की पाँचवी शताब्दी से नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक माना जाता है।[1] इन भक्तों में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं शूद्र वर्ग के लोगों के साथ अण्डाल नाम की महिला भी थी। तत्कालीन परिस्थितियों में भक्ति या उपासना के क्षेत्र में शूद्रों एवं स्त्रियोंका आगमन यह सूचित करता है कि यह आन्दोलन जातिगत भेद-भाव, स्त्री - पुरुषगत अन्तर एवं नारी पराधीनता पर प्रहार करने वाले विचारों के साथ ही आरम्भ हुआ था। आलवार भक्तों ने जाति भेद एवं नारी पराधीनता जैसी सामन्ती अवधारणा के प्रति विद्रोह करके भक्ति एवं साधना के क्षेत्र को बिना किसी भेद-भाव के सबके लिए खोल दिया। उन्होंने भक्ति आन्दोलन की एक ऐसी जनोन्मुख सरस धारा प्रवाहित की, जिसने ऊँच-नीच, स्त्री-पुरुष सबको अपने में आत्मसात कर लिया। "भक्ति आन्दोलन सामन्ती समाज की परिस्थितियों से उत्पन्न हुआ था। वह मूलत: सामन्ती समाज व्यवस्था से विद्रोह का साहित्य है।"[2] विद्रोही तेवर वाले इस भक्ति आन्दोलन को रामानुज ने 12वीं शताब्दी में सामन्ती अवरोधों को तोड़ कर आगे बढ़ाया। जातिगत भेद-भाव के प्रति विद्रोह करके उन्होंने 'उरंगविलिदास' एवं 'पिल्लई' जैसे शूद्रों को अपना शिष्य तथा 'शूद्र काँचीपूर्ण' को अपना गुरू स्वीकार

1- वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 19, डॉ0 मलिक मुहम्मद ।

2- परम्परा का मूल्यांकन - पृ0 93, डॉ0 रामविलास शर्मा ।

किया और चिरकाल से मन्दिर में प्रवेश करने से वंचित शूद्र एवं निम्न जाति के लोगों को अपने "मन्दिर पर्व" के माध्यम से मन्दिर में प्रवेश करने का अधिकार दिलाया। लेकिन इतना सब होते हुए भी रामानुज एवं आलवार भक्तों की अपनी कुछ सीमायें थीं। वे जातिगत असमानता एवं स्त्री-पुरुषगत भेदभाव जैसी सामन्ती मान्यताओं के प्रति मात्र भक्ति एवं साधना के स्तर पर ही विद्रोह कर सके हैं, सामाजिक स्तर पर नहीं। तत्कालीन राजतन्त्र एवं अर्थतन्त्र में व्याप्त अमानवीयता के प्रति उन्होंने आवाज नहीं उठाई - कारण चाहे जो रहा हो।

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के दौरान उत्तर भारत या हिन्दी भाषी प्रदेशों में भी जाति-व्यवस्था की कठोरता, ऊँच - नीच का भेद-भाव, छुआछूत की भावना तथा शूद्रों एवं स्त्रियों की दयनीयता जैसी वे सारी स्थितियाँ विद्यमान थीं, जो दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के समय थीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि मुस्लिम शासकों की धर्मान्धता एवं इस्लाम के प्रचारार्थ की जाने वाली क्रूरता उत्तर भारत की एक अतिरिक्त परिस्थिति थी, जो भक्ति आन्दोलन के उदय के समय दक्षिण भारत में विद्यमान नहीं थी। रामानन्द, जिनका समय लगभग चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक माना जाता है, ने उत्तर भारत के समाज एवं धर्म में विद्यमान इन सारी विसंगतियों को समाप्त करने के लिए दक्षिण भारत में उत्पन्न भक्ति आन्दोलन की सरल एवं जनोन्मुख धारा को उत्तर भारत में प्रवाहित किया। क्योंकि "आलवारों के वैष्णव भक्ति आन्दोलन में उत्तर भारत की धार्मिक अवस्था में दृष्टिगोचर होने वाले सभी रोगों की उचित औषधियाँ उपलब्ध थीं।"[1]

1- वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - पृ0 340, डॉ0 मलिक मुहम्मद।

रामानन्द द्वारा दक्षिण भारत से लाया गया यह भक्ति आन्दोलन उत्तर - भारत की धरती पर पहुँच कर अधिक विद्रोही हो उठा । इसके दो कारण थे - पहला मुसलमानों का धर्मान्धतापूर्ण शासन और दूसरा सिद्धों एवं नाथों की पूर्ववर्ती विद्रोही परम्परा । विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में - " उत्तर भारत में वह {भक्ति आन्दोलन} खरा, आग्रही, अधिक विद्रोही एवं आक्रामक बना । इसके लिए केवल तुर्कों का शासन जिम्मेदार नहीं, इसके लिए नाथों, सिद्धों की आत्मविश्वासी और वर्णव्यवस्था का तीव्र विरोध करने वाली परम्परा जिम्मेदार है ।"[1] रामानन्द ने बिना किसी भेद भाव के ऊँच - नीच, स्त्री - पुरूष, सब को अपना शिष्य बनाकर आलवारों की परम्परा की पुनरावृत्ति उत्तर भारत में कर दी । रैदास चमार, सेन नाई, धना जाट, पीपा राजपूत, कबीर जुलाहा, पद्मावती स्त्री आदि उनके शिष्य थे ।

संक्षेप में, दक्षिण भारत में उत्पन्न होकर उत्तर भारत तक आने वाले भक्ति आन्दोलन की प्रवृत्ति सामन्ती मूल्यों के प्रति विद्रोह की रही है । यह आन्दोलन भक्ति के क्षेत्र में जाति-प्रथा की भेद-भाव पूर्ण नीति को तोड़ने वाला एवं स्त्री-पुरूषगत अन्तर को अस्वीकार करने वाला था ।

{ख} भक्ति काल :-

रामानन्द ने भक्ति आन्दोलन की जो धारा उत्तर भारत में प्रवाहित की थी, हिन्दी भक्ति साहित्य उसी की देन है । हिन्दी के भक्त कवियों - कबीर, मीरा, तुलसी, सूर आदि ने तत्कालीन धर्म एवं समाज में विद्यमान छुआ-छूत, ऊँच - नीच

1- मीरा का काव्य - पृ0 28, विश्वनाथ त्रिपाठी ।

के भेद-भाव, एवं स्त्रीपुरूषगत असमानता जैसी सामन्ती अवधारणाओं के प्रति विद्रोह करके भक्ति आन्दोलन की जनोन्मुख एवं विद्रोही प्रवृत्ति को अधिक निखार दिया ।

कबीर का विद्रोह एकदम मुखर है । वे अपनी बात को अक्खड़ता एवं स्पष्टता के साथ कहते हैं । उसमें किसी प्रकार का दुराव छिपाव नहीं है । चाहे हिन्दुओं एवं मुसलमानों के मध्य श्रेष्ठता एवं निम्नता का प्रश्न हो, चाहे हिन्दुओं का जातिगत भेद-भाव; चाहे पण्डितों, मौलवियों का पाखण्ड हो और चाहे धार्मिक आडम्बर, सबके प्रति कबीर का रूख विद्रोही है । हिन्दू एवं मुसलमानों का एक दूसरे से श्रेष्ठ होने का विचार कबीर के गले नहीं उतरता । वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं -

"जे तू बाभन बभनी जाया ।
तो आन बाट होइ काहे न आया ।।
जे तू तुरूक तुरूकिनी जाया ।
तो भीतरि खतना क्यों न कराया ।।"[1]

उन्होंने दोनों धर्मों के आडम्बरों की बड़े निरपेक्ष भाव से धज्जियाँ उड़ाई है, काजियों एवं पण्डितों पर प्रहार किया है और कर्मकाण्ड की बखिया उधेड़ी है :

(क) " पण्डित बाद बदे सो झूठा
राम कहे दुनिया गति पावै, खाड़ कहे मुख मीठा ।"[2]

(ख) " काजी तै कवन कतेव बखाने
पढ़त-पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहि जाने ।"[3]

1- कबीर ग्रंथावली - पद सं0 178, सं0 पारसनाथ तिवारी ।

2- वही - पद सं0 179 ।

3- कबीर समग्र - सं0 प्रो० युगेश्वर - पृ0 548, पद सं0 59

(ग) "कोई फेरै माला, कोई फेरै तबसी, देखो रे लोगा दोनों कबसी ।
कोई जावे मक्का, कोई जावे कासी, दोऊ के गलि परि गई पासी ।"[1]

हिन्दुओं की सामन्ती जाति-व्यवस्था में विद्यमान शूद्र एवं ब्राह्मण जैसे वर्गीकरण पर प्रहार करते हुए कबीर ने कहा है " -

"एक बूँद ते सृष्टि रची है कौन ब्राह्मण कौन सूदा ।"[2]

कबीर की दृष्टि समाज के आर्थिक सम्बन्धों पर भी पड़ी थी । मध्यकालीन सन्तों में "वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने समाज के आर्थिक ढाँचे को समझने का प्रयास किया ।"[3] कबीर के शब्दों में -

"निर्धन आदर कोई न देई ।
लाख जतन करै ओहु चित न धरेई ।
जो निर्धन सरधन कै जाई ।
आगे बैठा पीठ फिराई ।"[4]

लेकिन तत्कालीन आर्थिक ढाँचे के प्रति कोई विद्रोह जैसी बात नहीं है । कबीर का विद्रोह, रोष, अस्वीकार प्राय: धार्मिक आडम्बरों एवं सामाजिक ढाँचे में व्याप्त जातिगत असमानता तक ही सीमित है । सभी सन्त कवियों के विद्रोह का स्वर प्राय: ऐसा ही है ।

1- कबीर ग्रन्थावली - सं0 पारसनाथ तिवारी, पद सं0 193

2- - वही - पद सं0 181

3- मध्य युगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति - पृ0 349, झारखण्ड चौबे ।

4- कबीर ग्रन्थावली - नागरी प्रचारिणी सभा - परिशिष्ट पृ0 302

मीरा का विद्रोह न तो अन्योक्ति एवं समासोक्ति का कवच धारण करता है और न रूपकों को ढाल बनाता है । वह अदम्य साहस एवं निर्भयता से ओत-प्रोत तथा दुराव-छिपाव से मुक्त है । मीरा का विद्रोह जहाँ एक ओर अपने परिवार के प्रति था, वहीं दूसरी ओर शासनतन्त्र एवं समाज की सामन्ती व्यवस्था के प्रति भी था । यह दूसरी बात है, कि उनके सन्दर्भ में ये तीनों एक हैं । ऐसी समस्या हिन्दी के किसी कवि या कवयित्री के समक्ष नहीं रही है । कृष्ण के प्रति प्रेम एवं भक्ति ने मीरा को घर परिवार छोड़ने तथा उनके सामन्ती परिवार की रूढ़ियों एवं खोखली मर्यादाओं ने उन्हें घर के अन्दर बन्द रहने के लिए विवश किया । भक्ति एवं कुलमर्यादा की इस रस्साकसी ने मीरा को विद्रोही बना दिया । उनके विद्रोह ने समाज के झूठे नियम एवं परिवार की निरर्थक मर्यादा को तोड़कर उन्हें साधुओं की जमात में खड़ा कर दिया । उन्होंने अपनी कविताओं में लोकलाज एवं कुलमर्यादा को तोड़ने एवं छोड़ने की बात अनेक बार कही है :

- "लोकलाज कुलराँ मरजादाँ जगमाँ णेक पराख्या री ।"[1]
- "साज सिंगार बाँधि पग घूँघर लोकलाज तज नाची ।"[2]
- "लोकलाज की कान न मानूं ।"[3]
- "लोकलाज कुलकाण जगत की दइ बहाइ जस पानी ।"[4]

1- मीरा की पदावली - पद सं0 17, सं0 परसुराम चतुर्वेदी ।

2- - वही - पद सं0 19

3- - वही - पद सं0 35

4- - वही - पद सं0 38

तुलसी एवं सूर के काव्य में विद्रोह का वह तेवर नहीं दिखाई पड़ता, जो कबीर एवं मीरा के काव्य में विद्यमान है। लेकिन फिर भी समाज की सामन्ती व्यवस्था के प्रति विद्रोह की अल्पाधिक अनूगूंज उनकी कविता में अवश्य सुनाई पड़ती है। तुलसी स्थान-स्थान पर जातिवादिता एवं कुलीनता, तथा उसके समर्थकों के प्रति विद्रोह करते एवं चेतावनी देते पाये जाते हैं। तुलसी के शब्दों में -

(क) "मेरी जाति-पाँति न चहौं कहू की जाति पाँति,
मेरे कोउ काम को न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरौसो तुलसी के एक नाम को।
अति ही अयानो उपखानो नहि बूझैं लोग,
साह ही को गोतु, गोतु होत है गुलाम को।
साधु के असाधु के भलो के पोच, सोचु कहा
का कहू के द्वार परो जो हौं सो हौं राम को।"[1]

(ख) "धूत कहौं, अवधूत कहौं, रजपूत कहो, जोलहा कहो कोउ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोउ।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचैसो कहै कछु ओउ।
माँगि के खैबो मसीत को सोइबो, लैबो को एकु न दैबे को दोउ।।"[2]

ऊँच-नीच, छुआ-छूत एवं जाति-भेद के प्रति किया गया तुलसी का विद्रोह भक्ति एवं साधना के स्तर पर ही है। "जिन तमाम लोगों के लिए पुरोहित वर्ग ने उपासना

1- कवितावली - उत्तरकाण्ड - 107, तुलसीदास।
2- - वही - 106

एवं मुक्ति के द्वार बन्द कर दिये थे;उन सबके लिए तुलसी ने उन्हें खोल दिया। तुलसी की जाति एवं कुलीनता पर पुरोहितों के आक्षेप का यही कारण था। - - - - - तुलसी की भक्ति पुरोहितों का इजारा तोड़ने वाली थी।"[1]

भक्त कवियों की मानवतावादी सोच नारी जीवन की पीड़ाओं के प्रति भी संवेदनशील रही है। उन्होंने नारी पराधीनता के विरुद्ध विद्रोह किया है। उनका यह विद्रोह प्राय: भक्ति एवं साधना के स्तर पर है, लेकिन यदा-कदा समाजिक स्तर पर भी है। मीरा के कृत्य नारी विषयक सामन्ती सोच के विरुद्ध विद्रोह करने वाले हैं। तुलसी को लोग सामान्यत: नारी निन्दक कहते हैं। लेकिन ऐसा कहकर यह नहीं सिद्ध किया जा सकता, कि उन्होंने नारी समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया और उनके जीवन को कठिन बनाने वाली सामन्ती समस्याओं के विरुद्ध विद्रोह नहीं किया। तुलसी ने नारी-पराधीनता की पीड़ा महसूस की है और अपनी क्षमता के अनुसार अपने नारी पात्रों के माध्यम से विद्रोह भी किया है। नारी जीवन की सबसे बड़ी समस्या विवाह सम्बन्धों में रुचि की स्वतन्त्रता का न होना रहा है। पार्वती की माँ मैना जब शिव को वर के रूप में अपनी पुत्री के अनुकूल नहीं देखतीं, तो उनका मन पीड़ा, असन्तोष एवं विद्रोह से भर जाता है :

"तुम्ह सहित गिरि ते गिरौं पावक जरौं जलनिधि महुँ परौं।
घर जाउ अपजसु होइ जग, जीवित विवाहु न हौं करौं।"[2]

यही नहीं पार्वती के पतिगृहगमन के समय नारीपराधीनता के प्रति विद्रोहन्मुख असन्तोष - '

1- परम्परा का मूल्यांकन - पृ0 78 - 79, डॉ0 रामविलास शर्मा।

2- रामचरित मानस - बालकाण्ड - दो0 सं0 96, तुलसीदास

"कत विधि सृजी नारि जग माँहीं ।

परांधीन सपनेहुँ सुख नाहीं "[1] के रूप में व्यक्त हुआ है । वाटिका में राम को देखकर सीता का मन उनके प्रति मुग्ध तो अवश्य होता है,लेकिन अपने विवाह को अपनी रुचि के स्थान पर अपने पिता की प्रतिज्ञा के वशीभूत जानकर वे क्षुब्ध हो जाती हैं - "नख सिख देखि राम कै सोभा । सुमिर पितापनु मनु अति क्षोभा ।"[2] तुलसी के ये विचार मध्यकालीन नारी शोषक व्यवस्था के प्रति विद्रोहात्मक है । हाँ, यह बात अवश्य है कि उनमें पर्याप्त मुखरता नहीं है, वे आँसुओं से लिपटे हुए हैं, और व्यवस्था को तोड़ नहीं पाये हैं । लेकिन सूर तुलसी से आगे हैं । उनका विद्रोह नारियों के लिए, घर की दीवार एवं समाज के अनावश्यक बन्धनों को तोड़ने में सफल रहा है । उनकी राधा तथा गोपियाँ सामन्ती समाज व्यवस्था की उपेक्षा करके स्वच्छन्दता के साथ लता कुंज एवं यमुना के कछार में कृष्ण प्रेम के वशीभूत होकर विचरण करती हैं । "तुलसी नारीपराधीनता को महसूस करते हैं, उसकी पीड़ा का चित्रण कर सकते हैं, किन्तु सामाजिक निषेधों में अन्तर्निहित अमानवीयता को इस तरह यानी सूर की तरह तोड़ नहीं सकते । वस्तुतः अन्तर तुलसी एवं सूर का उतना नहीं जितना राम एवं कृष्ण के चरित्रों का है ।"[3]

कबीर की कविता में नारी पराधीनता के प्रति स्पष्ट विद्रोह एवं आक्रोश तो नहीं दिखाई पड़ता । लेकिन फिर भी, नारी निन्दा से सम्बन्धित उनके दोहों में उनका सामन्ती व्यवस्था के प्रति आक्रोश एवं विद्रोह छिपा हुआ है । वे नारी के

1- रामचरित मानस - बालकाण्ड - दो० सं० 102, तुलसीदास ।

2- - वही - दो० सं० 234

3- मीरा का काव्य - पृ० 45, विश्वनाथ त्रिपाठी ।

कामिनीया-भोग्या रूप की आलोचना करते हैं, जो सामन्ती व्यवस्था एवं सोच द्वारा निर्मित है :

"एक कनक अरु कामिनी, विषफल कीय उपाइ ।
देखे ही ते विष चढ़े, खाये सू मरि जाइ ।।
एक कनक अरु कामिनी, दोउ अगनि की झाल ।
देखे ही तन प्रजले, परस्या ह्वै पैमाल ।।"[1]

ऐसा करके एक प्रकार से कबीर ने सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह ही किया है ।

इतना सब होते हुए भी मानवतावादी एवं उदार भक्त कवियों के सम्बन्ध में एक बात यह खटकती है, कि उन्होंने सतीप्रथा जैसे अत्यन्त अमानवीय कृत्य के प्रति विद्रोह क्यों नहीं प्रकट किया ? सम्भवत: "धार्मिक आग्रह इनकी करुणा को सीमित एवं बाधित करता था । वे सती के त्याग बलिदान को देखते थे, सतीप्रथा की अमानवीयता को नहीं ।"[2]

संक्षेप में, भक्ति आन्दोलन से प्रभावित एवं प्रेरित हिन्दी के भक्तिकाव्य में समाज एवं धर्म की सामन्ती संरचना तथा नारी विरोधी व्यवस्था के विरुद्ध मात्र साधना एवं भक्ति के स्तर परही विद्रोह व्यक्त नहीं हुआ है, बल्कि यह विद्रोह विशुद्ध सामाजिक स्तर तक भी व्याप्त है । "वर्णाश्रम धर्म एवं जाति-प्रथा की जितनी तीव्र आलोचना भक्ति साहित्य में है, उतनी आधुनिक साहित्य में नहीं है ।"[3]

1- कबीर ग्रन्थावली - कामी कौ अंग , सं0 भगवत स्वरूप मिश्र ।

2- मीरा का काव्य - पृ0 48 , विश्वनाथ त्रिपाठी ।

3- परम्परा का मूल्यांकन - पृ0 91 , डॉ0 रामविलास शर्मा ।

भक्ति काल के अन्तिम चरण में विद्रोह का स्वर शान्त पड़ गया । कारण यह था, कि भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से हिन्दी भाषी क्षेत्रों में भक्ति एवं साधना के स्तर पर लिंगगत एवं जातिगत, भेद-भाव प्राय: समाप्त हो गया और बिना भेद-भाव के भक्ति का मार्ग सबके लिए खुल गया । सहजता एवं सरसता के कारण सगुण भक्ति का प्रचलन बढ़ा, जबकि नीरसता के चलते निर्गुण भक्ति की धारा मन्द पड़ती चली गयी । सगुण भक्ति की कृष्ण काव्यधारा के कवि कृष्ण-राधा एवं गोपियों के घोर श्रृंगारिक चित्रण में रम गये । इन्हीं की देखा-देखी रामकाव्य में भी श्रृंगारिकता का प्रवेश हुआ । भक्ति एवं साधना के स्तर पर अन्तर्विरोधों के अभाव एवं सगुण भक्त कवियों में व्याप्त श्रृंगारिक चेतना की इस दशा में विद्रोह का विलोप स्वाभाविक ही था ।

3- रीतिकालीन कविता : विद्रोही स्वर का अभाव :-

जो श्रृंगारिक चेतना सगुण भक्ति काव्य में जन्मी, वह रीतिकालीन कविता की मुख्य विशेषता बन गयी । इस काल के प्राय: अधिकांश कवि राज दरबार से सम्बन्धित हो गये । श्रृंगार वर्णन उनका धर्म एवं कर्म बन गया । श्रृंगारिक रचनाओं को उन्होंने राजाओं के मनोरंजन एवं अपने लिए धनार्जन का साधन बनाया । प्रासाद की भव्यता में उलझे उनके नेत्रों ने जनसामान्य को तिरस्कृत कर दिया । सामन्ती रंग में रंगी उनकी बुद्धि ने जनता की समस्याओं पर विचार करना आवश्यक नहीं समझा । जिस सामन्ती व्यवस्था के प्रति इन कवियों को विद्रोह करना था, उस व्यवस्था के पोषक सामन्तगण इनके आश्रयदाता थे और ये उनके प्रशस्तिकार । अत: विद्रोह इनके वश की बात नहीं थी । रीति मुक्त कवियों की कविताओं में विद्रोह का जो कुछ आभास होता है उसका कोई उल्लेखनीय महत्व नहीं है । उनका सारा विद्रोह

प्रणय की स्वच्छन्दता तक ही सीमित है । इनकी 'रीति मुक्तता,' जिसे हम रीति - कालीन रचनाशैली के प्रति विद्रोह कह सकते हैं, वह भी बहुत कुछ इनकी प्रणय स्वच्छ - न्दता से ही प्रेरित है । भूषण आदि की वीर रस की कविताओं में विद्रोह नहीं, आश्रयदाता की प्रशस्ति है ।

इस प्रकार रीतिकालीन कविता में विद्रोही चेतना प्राय: अनुपस्थित है । उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बाद जब हिन्दी प्रदेश नवजागरण की ज्योति से जागृत हुआ और कवियों ने जनसमस्याओं को अपनी कविता का विषय बनाया तब,हिन्दी कविता में विद्रोह का नाद पुन: सुनायी पड़ा ।

4- आधुनिक काव्य : पुनर्जागरण :-

नवजागरण या पुनर्जागरण शब्द अंग्रेजी के 'रिनांसा' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है । पुनर्जागरण या नवजागरण का सामान्य अर्थ है - रूढ़ि एवं अज्ञानता की नींद से जागकर तार्किकता एवं मानवता से युक्त नयी समझ के सुप्रभात में आँख खोलना । किसी देश या समाज के सन्दर्भ में पुनर्जागरण या नवजागरण - तार्किकता एवं मानवता से युक्त ज्ञान के प्रकाश से रूढ़ि एवं अज्ञानता के अंधकार को नष्ट करके सर्वांगीण उत्थान की ओर अग्रसर होना है ।

प्रेस, यातायात, नयी अर्थव्यवस्था एवं पाश्चात्य शिक्षा - जिसे अंग्रेजों ने भारतीयों के शोषण के लिए व्यवस्थित किया था - के सम्पर्क में आने एवं अपने सांस्कृतिक गौरव को पहचानने के कारण 19वीं शताब्दी तक पहुंचते-पहुंचते, साम्राज्यवादी एवं पूंजीवादी ब्रिटिश सत्ता के द्वारा किये जा रहे शोषण से बदतर होती अपनी स्थिति को सुधारने के लिए भारतीय प्रेरित हो उठे । "इसी चेतना-भावना और इससे प्रभावित विभिन्न प्रयत्नों को हम भारतीय पुनरुद्धार {पुनर्जागरण} आन्दोलन के

नाम से पुकारते हैं ।"[1] ब्रिटिश शासन में भारतीय जीवन का हर क्षेत्र शोषण एवं उपेक्षा का शिकार हुआ था । अत: सर्वत्र सुधार एवं जागृति की आवश्यकता थी । यही कारण है कि "जिसे भारत में रिनासा या पुनर्जागरण कहा जाता है, उसमें सामाजिक नवचेतना, राष्ट्रवादिता, समाज सुधार, सांस्कृतिक पुनरून्नयन एवं राजनैतिक उन्नयन एक में मिले हुए हैं ।"[2]

पुनर्जागरण या नवजागरण, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र तक व्याप्त होते हुए भी, प्रथम दृष्टि में "सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन के रूप में दिखाई पड़ता है । कारण यह था, कि भारतीय धर्म एवं समाज में ढेर सारी कुरीतियाँ, रूढ़ियाँ एवं अंध - विश्वास विद्यमान थे, जिन्हें दूर किये बिना देश में एकता, शक्ति एवं वैचारिक दृढ़ता का संचार सम्भव नहीं था और इसके अभाव में राजनीतिक एवं आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति की दिशा में कदम बढ़ाने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी । इन्हीं परिस्थितियों में अनेक बुद्धिजीवी एवं विचारक भारत को पुनर्जागृत करने के लिए सामने आये और उन्होंने अनेक संस्थायें स्थापित करके अपने विचारों को जन-जन तक पहुँचाया । ऐसे विचारकों में राजा राममोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, दयानन्द सरस्वती , स्वामी विवेकानन्द आदि प्रमुख हैं । जिस प्रकार सामाजिक एवं धार्मिक अमानवीयता, रूढ़ि एवं आडम्बर के विरोध में 19वीं शताब्दी में पुनर्जागरण का सूत्रपात हुआ, ठीक उसी प्रकार मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन का उदय हुआ था । दोनों में अन्तर यह था कि जहाँ पुनर्जागरण 'तर्क' पर आधारित था, वहाँ भक्ति आन्दोलन 'भावना' पर

1- आधुनिक भारत - पृ0 48, एल0 पी0 शर्मा ।

2- भारतीय नवजागरण - प्रणेता तथा आन्दोलन - पृ0 16, गौरी शंकर भट्ट ।

खड़ा था । भक्ति आन्दोलन साधु-सन्तों द्वारा आरम्भ किया गया था जिनका सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समस्याओं से प्राय: कुछ लेना देना नहीं था। भक्ति एवं साधना ही उनका मुख्य लक्ष्य था । अत: उन्होंने ऊँच-नीच, छुआ-छूत, जाति-प्रथा एवं स्त्री-पुरुषभेद-भाव के प्रति प्राय: भक्ति एवं साधना के स्तर पर ही विद्रोह किया था । लेकिन पुनर्जागरण के कर्णधार प्राय: गृहस्थ, सामाजिक एवं भौतिक सोच के व्यक्ति थे । इनमें जो लोग आध्यात्मिक थे , वे भी जनसमस्याओं पर चिन्तन करने वाले थे । उनका आध्यात्म भौतिकता की यथार्थ भूमि पर आधारित था । अत: उन्होंने सारी रूढ़ियों एवं अमानवीयताओं का धार्मिक एवं सामाजिक स्तर पर विरोध करने के साथ-साथ, आर्थिक एवं राजनैतिक विसंगतियों को भी उखाड़ फेंकने का प्रयास किया ।

पुनर्जागरण की चिन्तन शैली एवं गतिविधि से स्पष्ट है कि वह विद्रोही प्रवृत्ति से युक्त था । धार्मिक एवं सामाजिक स्तर पर उसका विद्रोह भारतीय धर्म एवं समाज में व्याप्त आडम्बरों, कुरीतियों, रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों के प्रति था, जबकि राजनैतिक एवं आर्थिक स्तर पर उसने साम्राज्यवादी तथा पूँजीवादी ब्रिटिश सत्ता के प्रति विद्रोह किया था । नवजागरण या पुनर्जागरण से हिन्दी साहित्य का भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग एवं छायावाद प्रभावित है । इन युगों की काव्य रचनाओं में पुनर्जागरण के समग्र विद्रोही चिन्तन की अभिव्यक्ति हुई है ।

(क) भारतेन्दु युगीन कविता :-

रीतिकालीन कविता में विद्रोह का जो स्वर मूक हो गया था, वह नव - जागरण आन्दोलन के प्रभाव से भारतेन्दु युगीन कविता में पुन: झंकृत हो उठा । राजनैतिक एवं आर्थिक स्तर पर इस युग के कवियों का विद्रोह, ब्रिटिश शासन व्यवस्था

के प्रति था, जबकि सामाजिक एवं धार्मिक स्तर पर उनका विद्रोह हिन्दू समाज एवं धर्म की कुरीतियों के विरुद्ध था। जहाँ तक राजनीति एवं अर्थव्यवस्था के प्रति विद्रोह की बात है, तो वह इस काल के आरम्भिक दौर में अस्पष्ट एवं अन्तर्विरोध से युक्त है। कवियों ने जहाँ एक ओर तत्कालीन शासन व्यवस्था के प्रति राजभक्ति प्रदर्शित की है, वहीं दूसरी ओर उसके प्रति आक्रोश एवं रोष का भाव व्यक्त किया है। उनका विद्रोह राजभक्ति एवं देशभक्ति के मध्य दोलायमान है। वे यह निश्चित नहीं कर पा रहे थे कि इस व्यवस्था को नकारना हितकर है या स्वीकारना। इसका कारण, 1857 के विद्रोह के बाद 1858 में महारानी विक्टोरिया द्वारा जारी आकर्षक घोषणा पत्र के प्रति लोगों में आशा एवं विश्वास तथा महारानी के प्रति भक्ति का उदय था। लेकिन, जब घोषणा पत्र के अनुसार भारतीयों की आकांक्षा पूर्ण नहीं हुई और शोषण तथा दमन की गतिविधि पूर्ववत जारी रही, तो लोगों में असन्तोष एवं विद्रोह के भाव पनपने लगे। यही कारण है, कि प्रारम्भ में, भारतेन्दु युग के जिन कवियों ने ब्रिटिश सत्ता का गुणगान किया है या उसके प्रति अपना हल्का रोष व्यक्त किया है, उन्होंने ही आगे चल कर उसके विरुद्ध अपना तीव्र विद्रोह भी व्यक्त किया है।

भारतेन्दु युगीन कवियों ने अपनी कविता में देश के गौरवपूर्ण अतीत एवं दयनीय वर्तमान का चित्रण करके देश की दयनीय स्थिति के लिए उत्तरदायी ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का भाव प्रकट किया है। यथा -

"सबसे पहिले जेहि ईश्वर धन-बल दीनो।
सबसे पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।

x x x x

"अब सब से पीछे - सोई परत लखाई ।
हा!हा । भारत दुर्दशा देखी न जाई ।।"[1]

प्रत्यक्षत: तो इस कविता में वेदना एवं पीड़ा ही दिखाई पड़ती है, लेकिन यहाँ वेदना, पीड़ा एवं असन्तोष की राख में छिपे विद्रोह के अंगारों को नजरन्दाज नहीं किया जा सकता ।

भारतेन्दु युगीन कवियों ने पराधीनता की जंजीर को तोड़ने एवं ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ देने की बात को सीधे - सीधे भी कहा है । इन कवियों को पराधीनता संसार का सबसे बड़ा दु:ख प्रतीत होती है :

(क) "जदपि जगत में बहुत दुख दुसह महान ।
पराधीनता के सम तदपि न आन ।।"[2]

(ख) "सब तजि गहो स्वतन्त्रता, नहि चुप लातैं खाव ।
राजा करै सो न्याव है, पासा परै सो दाव ।।"[3]

इस काल के कवियों ने भारत के आर्थिक शोषण के लिए जिम्मेदार ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के प्रति भी बगावत की है । भारत में उस समय चल रही विलायती लूट के विरुद्ध प्रताप नारायण मिश्र ने अपना विद्रोह - "सर्वसु लिये जात अंग्रेज"[4] - कह कर व्यक्त किया है और भारतेन्दु ने - "धन विदेश चलिजात"[5] - एवं " भीतर - भीतर सब

1- भारतेन्दु ग्रंथावली - भाग दो - पृ0 804 ।
2- प्रेमघन सर्वस्व - भाग एक - पृ0 69 ।
3- - वही - पृ0 70 ।
4- लोकोक्तिशतक - पृ0 3, प्रताप नारायण मिश्र ।
5- भारतेन्दु नाटकवली - पृ0 598 ।

रस चूसे'[1] - जैसे कथन के माध्यम से प्रकट किया है । प्रेमधन तो चरखे के सूत से निर्मित स्वदेशी वस्त्र द्वारा मानचेस्टर को मात देकर ब्रिटिश अर्थव्यवस्था को तबाह कर देना चाहते हैं :

"चला चल चरखा तू दिन रात

x x x x

कात-कात कर सूत मैनचिस्टर को कर दे मात ।"[2]

भारतेन्दु युगीन कवियों का यह स्वदेशी का नारा जहाँ एक ओर ब्रिटिश अर्थतन्त्र के प्रति विद्रोही विचारों से प्रेरित था, वहीं दूसरी ओर भारतीय अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने एवं भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना भरने की दिशा में एक कदम भी था ।

इस दौर के कवियों का स्वर तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों के प्रति भी विद्रोही रहा है । धर्म एवं समाज के क्षेत्र में उनका विद्रोह सुधारमूलक है, आमूल परिवर्तन मूलक नहीं । उन्होंने बेमेल विवाह, बाल विवाह, छुआ-छूत, धार्मिक आडम्बर एवं विधवाओं की दयनीय दशा जैसी कुरीतियों के प्रति विद्रोह करके हिन्दू समाज में सुधार एवं नयी चेतना लाने का प्रयास किया है । प्रेमधन ने बेमेल विवाह पर जबरदस्त चोट की है । बेमेल विवाह से त्रस्त नारी का विद्रोह उनकी कविता में इस प्रकार से प्रकट हुआ है -

"असी बरस के भया बूढ़ तू जैसे हमार परवाजा रामा

हरि हरि हम बारिहे बरिस के अबही बाला रे हारी ।"[3]

1- भारतेन्दु ग्रन्थावली - भाग दो, पृ0 811 ।

2- प्रेमधन सर्वस्व - प्रथम भाग - पृ0 633 ।

3- प्रेमधन सर्वस्व - पृ0 548 ।

बालकृष्ण भट्ट की निम्न कविता में 'विधवा' का विद्रोह पुरूष प्रधान समाज के उस अन्याय एवं दबाव के विरूद्ध प्रकट हुआ है, जो उसे पुनर्विवाह करने से रोकता है :

"आप तो व्याह करो, दस वाहो ताह पै न हो व्यभिचारी ।
करो अन्याय बाल विधवा पर, अपनी ही अरथ निहारी ।।"[1]

भारतेन्दु को मत-मतान्तर एवं जाति भेद स्वीकार नहीं है । वे इन सारे भेदों को स्वार्थी तत्वों द्वारा निर्मित मानते हैं :

"रचि बहु विधि के वाक्य पुरातन माहि घुसाये ।
शैव, शाक्त, वैष्णव अनेक मत प्रकट कलाये ।
जाति अनेकन करि ऊँच अरू नीच बनायो
खान-पान सम्बन्ध सबनि सो बरज छुड़ायो ।"[2]

इस प्रकार सामाजिक एवं धार्मिक विसंगतियों के प्रति इस काल के कवियों का विद्रोह सुधारात्मक है । उसमें, सब कुछ अस्वीकार कर सर्वथा नवनिर्माण की बात नहीं दिखाई पड़ती है । राजनैतिक व्यवस्था के प्रति इन कवियों का विद्रोह आरम्भ में अस्फुट एवं अन्तर्विरोध से ग्रस्त है, लेकिन धीरे-धीरे उसमें प्रखरता आती गयी है और अन्ततः उसमें तत्कालीन राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्था को छिन्न भिन्न कर देने का स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ने लगा है ।

1- हिन्दी प्रदीप - पृ0 28 , दिसम्बर 1880 ।

2- भारतेन्दु नाटकावली - पृ0 640 ।

§ख§ द्विवेदी युगीन कविता :-

द्विवेदी युगीन कविता का विद्रोही स्वर भारतेन्दु युगीन कविता के विद्राही स्वर की अपेक्षा अधिक तीव्र एवं मुखर है । कारण, सन् 1900 तक आते - आते ब्रिटिश सत्ता का शोषक एवं अत्याचारी स्वरूप पूर्णत: स्पष्ट हो गया । उसकी अधीनता में देश की स्थिति को सुधारने की कांग्रेस की 'नरमपंथी सोच' एवं भिक्षावृत्ति से लोगों का मोह समाप्त हो गया । देश के युवकों ने ब्रिटिश सत्ता को समाप्त करने के लिए उग्रता एवं आतंक का सहारा लिया । परिणाम यह हुआ कि सारे देश में अंग्रेजी शासन के विरोध में विद्रोही स्वर एवं बम के धमाके गूँजने लगे । सत्ता ने उस पर अंकुश लगाने के लिए 1905 के बंग-विभाजन, 1909 के सुधार अधिनियम, 1919 के रौलट बिल एवं 1919 के जलियावाला गोलीकाण्ड जैसे, अनेक हथकण्डों को अपनाया, जबकि देशभक्तों ने 'होम-रूल- लीग' एवं गदरपार्टी जैसे संगठनों की स्थापना करके सत्ता विरोधी गतिविधियों को जारी रखा । बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, विपिन चन्द पाल जैसे देश भक्तों ने अधिकार, त्याग, गौरव एवं विद्रोह का भाव लोगों में भर दिया । ऐसी परिस्थिति में द्विवेदी युगीन कविता का उग्र एवं विद्रोही हो जाना स्वाभाविक था । भारतेन्दु युगीन कविता में विद्रोह की जो चिनगारी धीरे-धीरे चमक रही थी, वह द्विवेदी युगीन कविता में तत्कालीन परिस्थितियों की हवा पाकर शोले के रूप में भड़क उठी । इस काल की कविता में ब्रिटिश व्यवस्था एवं अर्थ - तन्त्र को विध्वंश करने का स्वर बहुत प्रखर है ।

भारतेन्दु युगीन कवियों की तरह द्विवेदी युगीन कवियों ने भी देश के गौरवमय अतीत एवं दयनीय वर्तमान का चित्रण करके तत्कालीन शासन के विरूद्ध

अपना विद्रोह व्यक्त किया है । मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में -

"भारत तुम्हारा आज यह कैसा भयंकर वेष है ?

है और सब निःशेष केवल नाम ही अवशेष है ।"[1]

इस दौर के कवियों ने ब्रिटिश सत्ता को पूरे साहस के साथ स्पष्ट ढंग से ललकारा है, स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उसके विरुद्ध सीधी कार्यवाही का ऐलान किया है और स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपने को समर्पित कर देने का भाव व्यक्त किया है । कवि त्रिशूल तिलक के उद्घोष - "स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" - से स्वर मिलाते हुए कहते हैं -

"हमारा जन्मसिद्ध अधिकार, अगर छीनेगा कोई यार ।

रहेंगे कब तक मन को मार, सहेंगे कब तक अत्याचार ।।"[2]

श्री हरिराम पुजारी का विद्रोही स्वर दुर्दमनीय है । उनमें मातृ - भूमि के लिए हर कष्ट सहने का साहस है :

"टाँग दो शूली पे मुझको खाल मेरी खींच लो ।

दम निकलते तक सुनो हुंकार वन्देमातरम् ।"[3]

माधव शुक्ल ब्रिटिश सत्ता की हर यातना को सहकर भी 'होमरूल' ले लेने की बात करते हैं और अपनी हुंकार से लन्दन को प्रकम्पित कर देने का दम भरते हैं :

(क) "नछोड़ेंगे, न छोड़ेंगे कभी यह टेक हम अपना ।

निकलती साँस तक बोलेंगे लेंगे होम रूल अपना ।।"[3]

1- भारत भारती - पृ0 4, मैथिलीशरण गुप्त ।

2- त्रिशूल तरंग - पृ0 20, कवि त्रिशूल ।

3- स्वतन्त्रता की झंकार - पृ0 12, हरिराम पुजारी ।

4- जागृत भारत - पृ0 35, माधव शुक्ल ।

"सारी दुनिया काँप उठेगी दोषी दिल हिल जायेगा ।

आज भारती हुंकारों से लन्दन भी हिल जायेगा ।"[1]

भारतेन्दु युगीन कवियों की तरह द्विवेदी युगीन कवियों ने भी देश की आर्थिक विपन्नता का कारण 'धन निकासी' या विलायती लूट को माना है । मैथिलीशरण गुप्त ने देश के कच्चे माल को विदेश जाने से रोकने एवं उसके उपयोग के लिए देश में कारखाना खोलने की बात कहकर ब्रिटिश अर्थतन्त्र पर सीधा हमला किया है :

"अब तो उठो हे बन्धुओं, निजदेश की जय बोल दो ।
बनने लगें सब वस्तुएँ कल कारखाने खोल दो ।
जावें यहाँ से और कच्चा माल अब बाहर नहीं ।
हो मेडइन के बाद बस अब इण्डिया ही सब कहीं ।"[2]

ब्रिटिश शासन के उद्योग और अर्थतन्त्र के प्रति द्विवेदी युगीन कवियों का विद्रोह उस समय और स्पष्ट हो जाता है जब वे स्वदेशी की बात करते हैं । स्वदेशी के प्रति उनकी दृढ़ता भारतेन्दु युगीन कवियों की अपेक्षा अधिक है । विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के प्रति वे कृत संकल्प हैं :

"स्वदेशी वस्तु को स्वीकार कीजे ।

x x x x

शपथ करके विदेशी वस्त्र त्यागें ।"[3]

1- जागृत भारत - पृ0 25, माधव शुक्ल

2- भारत भारती - पृ0 168, मैथिलीशरण गुप्त

3- सरस्वती - जुलाई 1930, 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार' - महावीर प्रसाद द्विवेदी ।

सामाजिक एवं धार्मिक विसंगतियों के विरूद्ध इस युग के कवियों के विद्रोह का रूख, तीखा होते हुए भी आमूल परिवर्तनकारी नहीं, बल्कि सुधारात्मक है । पर्दाप्रथा के विरूद्ध आवाज उठाते हुए श्याम बिहारी मिश्र कहते हैं -

"उठ जाती परदे की दु:खद निंद्य चाल भी आज दिन ।
तो प्रमदा जन की दुर्दशा शेष न रहती एक दिन ।"[1]

मैथिलीशरण गुप्त ने समाज में व्याप्त विधवाओं के प्रति कुत्सित दृष्टिकोण एवं उनके साथ किये जाने वाले अमानवीय कृत्य के प्रति विद्रोह व्यक्त करते हुए विधवाओं को करूणा एवं पवित्रता की मूर्ति की संज्ञा दी है :

" हिन्दू विधवा की शुचि मूर्ति ।
पवित्रता की सकरूण मूर्ति ।
x x x
यही तुम्हारा है न्यायित्व
कि तुम करो ब्याह पर ब्याह
पर विधवायें भरे न आह ।"[2]

जातिगत भेद-भाव एवं छुआ-छूत के विरूद्ध इस काल के कवियों में एक वैचारिक विद्रोह दिखाई पड़ता है । वे इस रूढ़ि को तोड़कर समाज में समरसता लाने के पक्षधर हैं । श्याम बिहारी मिश्र ने अपनी निम्न कविता में जातिगत भेद-भाव पर प्रहार किया है :

" क्या है चमार या डोम नही सुत मेरा ?
क्या ब्राह्मन को ही मैंने दिया बसेरा ?
क्या अन्न-वायु-जल से चमार की काया,
नहिं पाली मैंने देह यथा दुजराया ?"[3]

1- भारत विनय - पृ0 59, श्याम बिहारी मिश्र ।
2- हिन्दू - पृ0 117, मैथिलीशरण गुप्त ।
3- भारत विनय - पृ0 15, श्याम बिहारी मिश्र ।

इस प्रकार द्विवेदी युगीन कविता का विद्रोही स्वर व्यापकता में भारतेन्दु - युगीन कविता जैसा ही है, लेकिन तीव्रता, मुखरता एवं स्पष्टता में उससे बढ़कर है ।

ग- छायावाद:-

छायावाद हिन्दी साहित्य में पुनर्जागरण का तृतीय एवं अन्तिम चरण है । "जिस प्रकार बारहवीं एवं तेरहवीं सदी में शुरू होने वाले मध्य-युगीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान का चरमोत्कर्ष सोलवीं सदी के भक्तिकाव्य में हुआ है, उसी प्रकार उन्नीसवीं सदी के आधुनिक सांस्कृतिक जागरण का चरमोत्कर्ष बीसवीं सदी के छायावादी काव्य में हुआ है ।[1] छायावाद उस राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, जो एक ओर पुरानी रूढ़ियों से मुक्ति चाहता था और दूसरी ओर विदेशी पराधीनता से ।"[2] इसीलिए छायावादी कविता में पुरानी सामन्ती रूढ़ियों एवं विदेशी पराधीनता से मुक्ति की कामना एवं विद्रोह की भावना विद्यमान है ।

समाज की सामन्ती रूढ़ियों के प्रति छायावादी कवियों का विद्रोह भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग की तरह सुधारात्मक एवं सामूहिक न होकर आमूल परिवर्तन की चेतना तथा वैयक्तिकता एवं स्वच्छन्दता की भावना से युक्त है । इन्होंने समाज की रूढ़ियों के साथ - साथ उन नैतिकताओं एवं मर्यादाओं कीभिखिलाफत की है, जो व्यक्ति की वैयक्तिकता को कुचलती है और उसके आत्मप्रसार में बाधक है ।"पंचवटी प्रसंग" में निराला के राम सीता से आत्म प्रसार एवं असीमितता की बात करते हुए, परिवार एवं समाज की लघुसीमा के प्रति जो अरुचि का भाव व्यक्त करते हैं, वह उनकी (निराला की) वैयक्तिकता या स्वच्छन्द चेतना का सामाजिक मर्यादाओं के प्रति विद्रोह है :

1- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - पृ0 48 , डॉ0 नामवर सिंह ।

2- छायावाद - पृ0 17, डॉ0 नामवर सिंह ।

"छोटे से घर की लघु सीमा मे
बँधे हैं क्षुद्र भाव
यह सच है प्रिये
प्रेम का पयोनिधि तो उमड़ता है
सदा ही नि:सीमित भूमि पर ।" 'पंचवटी प्रसंग' निराला

छायावादी कवियों ने स्त्री-पुरूष के प्रणय सम्बन्ध में समाज की मर्यादा एवं नैतिकता को स्वीकार नहीं किया है । स्त्री के समाज-स्वीकृत पत्नी रूप को मर्यादाओं से जकड़ा हुआ एवं स्वच्छन्दता में बाधक समझ कर इन कवियों ने स्त्री को प्रिये, प्रियतमे, सखि जैसे शब्दों से सम्बोधित किया है । प्रसाद के 'आँसू' एवं 'प्रेम पथिक', पन्त के 'ग्रंथि' एवं 'उच्छवास' स्वच्छन्द प्रणय-भावना के परिणाम है ।

इस काव्यधारा के कवियों ने नारी को भोग्या से अधिक कुछ न समझने वाली सामन्ती सोच को अस्वीकार कर दिया है । उनका यह कार्य नारी विषयक सामन्ती धारणा के विरूद्ध विद्रोह ही है । युग-युगान्तर से रूढ़ियों में कैद नारी की पूर्ण स्वाधीनता की बात करते हुए पंत कहते हैं :

"योनि नहीं है रे नारी, वह भी मानवी प्रतिष्ठित ।
उसे पूर्ण स्वाधीन करो वह रहे न नर पर अवसित ।"[1]

समाज द्वारा निन्दनीय माना जाने वाला नारी का वैधव्य रूप छायावादी कवियों के लिए हेय एवं निन्दनीय नहीं है । उन्हें वह 'दीन दलित भारत की विधवा,' इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी, दीप शिखा-सी शान्त भाव में लीन दिखाई पड़ती है ।"[2] उनकी

1- ग्राम्या - पृ0 84, पंत ।
2- परिमल - पृ0 126, 'विधवा', निराला ।

यह सोच विधवा विषयक पारम्परिक मान्यताओं के विरूद्ध बगावत ही है । छायावादी कवियों की नारी विषयक दृष्टि अपने पूर्ववर्ती भारतेन्दु युगीन एवं द्विवेदी युगीन कवियों से अधिक प्रगतिशील है । "द्विवेदी युग की कविता में नारी के प्रति दया का भाव तो है, पर यथोचित सम्मान का भाव नहीं है ।"[1]

'सरोज स्मृति' कविता में सामाजिक रूढ़ियों के विरूद्ध निराला का विद्रोह एवं अस्वीकार का स्वर पूर्ण मुखर है :

"ये कान्य कुब्ज - कुल कुलांगार,
खाकर पत्तल में करें छेद ।
उनके कर कन्या अर्थखेद,
x x x
तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम ।
मैं सामाजिक योग के प्रथम ।"[2]

छायावादी कवियों ने जहाँ वैयक्तिक स्वाधीनता के लिए समाज की सामन्ती मर्यादाओं के विरूद्ध विद्रोह किया है, वहीं राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध भी विद्रोह व्यक्त किया है । लेकिन, द्विवेदी युगीन कवियों की तरह उनके इस विद्रोह में मुखरता नहीं है । इसका कारण सम्भवत: तत्कालीन राजनीति में गाँधी के 'सत्य-अहिंसा' का प्रभावी होना है । इस दौर की कविताओं में 'देश के भूतकालिक गौरव', 'देशप्रेम' एवं 'जागरण' का जो भाव व्यक्त हुआ है वह पूरी तरह ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध विद्रोह से प्रेरित है । छायावादी कवियों में प्रसाद

1- छायावाद - पृ0 47, डॉ0 नामवर सिंह ।

2- रागविराग - {'सरोज स्मृति' कविता}, सं0 रामविलास शर्मा ।

ने देश के गौरव- मय अतीत का चित्रण सर्वाधिक किया है । देश के गौरव-वर्णन एवं उसकी रक्षा के लिए आत्म बलिदान के भाव से युक्त, प्रसाद की निम्न कविता में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्धविद्रोहकाभाव पूर्णत: स्पष्ट है :

"वही है रक्त वही है देह, वही साहस है वैसा ज्ञान ।
वही है शान्ति वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य सन्तान ।
जियें तो सदा उसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष ।।"[1]

'पेशोला की प्रतिध्वनि' कविता में प्रसाद ने महाराणा प्रताप के चरित्र के माध्यम से पराधीन भारतीयों को आत्म गौरव का बोध कराया है और "शेर सिंह का शस्त्र समर्पण " कविता में शेर सिंह के माध्यम से ब्रिटिश सत्ता को ललकारा है :

"आज विजयी हो तुम ।
और हैं पराजित हम
तुम तो कहोगे इतिहास भी कहेगा यही
किन्तु यह विजय प्रशंसा भरी मन की
एक छलना है ।"

निराला की - "छत्रपति शिवाजी का पत्र"एवं "जागो फिर एक बार " कविता में गौरव बोध, जातीय एकता का भाव एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध विद्रोह की हुंकार - निहित है :

"एकीभूत शक्तियों से एक हो परिवार
फैले संवेदना
व्यक्ति का खिंचाव यदि जाति से हो जाय
देखो परिणाम फिर

1- स्कन्द गुप्त - पृ0 133 प्रसाद

स्थिर न रहेंगे पैर
पस्त हौसला होगा
ध्वस्त होगा साम्राज्य - - - - -
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से
दासता के पाश कट जायेंगे ।"[1]

"जागो फिर एक बार" कविता में 'निराला' ने अकाली सिक्खों में ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध विद्रोह जगाया है :

"शेर की माँद में
आया है आज स्यार
जागो फिर एक बार ।"[2]

भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग की तरह छायावादी कविता में साम्राज्यवादी शोषण के विरूद्ध विद्रोह का भाव तो व्यक्त ही हुआ है, लेकिन इस काल के उत्तरार्द्ध में पूँजीवादी शोषण के विरूद्ध भी स्वर उठने लगे हैं । कारण, कल-कारखानों की स्थापना के कारण इस समय तक देश में ही एक पूँजीवादी वर्ग का जन्म हो गया था, और उसने भी देश की जनता का शोषण करना शुरू कर दिया था । इस काल के उत्तरार्द्ध में, पूँजीवादी शोषण के विरूद्ध विरोध, साम्यवाद की कामना एवं वर्ग संघर्ष को विशेष रूप से उभारा गया है, जिसे मुख्यत: पंत एवं निराला की कविताओं में देखा जा सकता है । पंत ने पूँजीपतियों को श्रमिकों के 'श्रम का शोषक', 'नृशंस' एवं 'जौंक' कह कर सम्बोधित किया है -

---

1- अपरा - पृ0 80 - 81 ।

2- रागविराग - पृ0 58 {कविता, "जागो फिर एक बार"}, सं0 रामविलास शर्मा

"वे नृशंस हैं वे जन के श्रमबल से पोषित ।

दुहरेधनी, जोंक जग के, भू जिनसे शोषित ।"[1]

पूँजीवाद एवं शोषण के विरूद्ध विद्रोह की ज्वाला निराला की "कुकुरमुत्ता" कविता में एकदम प्रखर है । सर्वहारा "कुकुर-मुत्ता" के माध्यम से शोषक 'गुलाब' के प्रति निराला का विद्रोह एवं आक्रोश कुछ इस प्रकार है :

"अबे !
सुन बे गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू, रंगो आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपीटलिस्ट ।"[2]

पूँजीवाद एवं शोषण के विरूद्ध जिस विद्रोह की अभिव्यक्ति छायावाद के उत्तरार्द्ध में हुई है, उसी का विकसित रूप आगे चल कर प्रगतिवाद में दिखाई पड़ता है ।

5- सन् 1936 के बाद की कविता : विद्रोह का स्वरूप :-

(क) प्रगतिवाद :- प्रगतिवाद की स्थिति अपनी पूर्ववर्ती काव्यधाराओं से भिन्न है । "वह राजनीतिक जागरण की उपज है, सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण की नहीं ।"[3] "प्रगतिवाद का आरम्भ साहित्य में आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलन के रूप में हुआ है । देशकी विशेष राजनीतिक परिस्थितियों के कारण - - - - - पहले वाला व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक जागरण अब केवल राजनीति में केन्द्रित हो गया ।"[4]

1- युग पथ - पृ0 31 ('धनपति' कविता), पंत ।
2- राग विराग - पृ0 145, ('कुकुर मुत्ता' कविता) सं0 रामविलास शर्मा ।
3- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - पृ0 84, डॉ0 नामवर सिंह ।
4- - वही - पृ0 84

बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक तक आते-आते देश में पूँजीवादी शोषण का स्वरूप स्पष्ट हो गया, जिससे बचने के लिए किसान-मजदूर संगठित हुए और मार्क्सवादी चिन्तन को स्वीकृति मिलने लगी। 1930 के बाद कांग्रेस के अन्दर 'वामपंथी गुट' शिर उठाने लगा। इसी राजनीतिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि में साहित्य में मार्क्सवादी चिन्तन का प्रवेश हुआ। प्रगतिवाद मार्क्सवाद से प्रभावित है। इसी प्रभाव के चलते इस काव्यधारा ने देश में गतिशील साम्राज्यवादी, पूँजीवादी, एवं सामन्तवादी शक्तियों के प्रति विद्रोह व्यक्त करते हुए सर्वहारा का समर्थन किया है। इस धारा के कवियों का विद्रोह सामूहिक एवं विध्वंसात्मक है। इन कवियों ने सामाज एवं मानव जीवन की सारी समस्याओं को शोषण एवं "आर्थिक सम्बन्धों की विषमता" से सम्बन्धित माना है। अतः इनका सारा विद्रोह शोषण एवं आर्थिक विषमता की पृष्ठभूमि पर आधारित है।

तत्कालीन ब्रिटिश सत्ता के प्रति प्रगतिवादी कविता का विद्रोह काफी तीखा है। इसका कारण, स्वतन्त्रता आन्दोलन में वामपंथी विचारों के प्रभाव का बढ़ना तथा महात्मा गांधी के 'सत्य-अहिंसा' एवं 'सत्याग्रह' से लोगों के मोह का भंग होना है। उदय शंकर भट्ट ब्रिटिश सत्ता को ललकारते हुए तथा देश की जनता को उसके विरूद्ध उत्तेजित करते हुये कहते हैं :-

"ये और कीट से लघुशासक,
ये और कीट से राजतन्त्र
मेरे आगे क्या ठहर सके,
मैं महानाश का महामन्त्र।"[1]

1- चित्र के दो रूप - विशाल भारत-फरवरी 1939 पृ0 142।

गोपाल सिंह नेपाली पराधीनता से मुक्ति पाने के लिए ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध शक्ति संगठित करने की बात कहते हैं :

"जंजीर टूटती कभी न अश्रुधार से,
दु:ख दर्द भागते नहीं दुलार से ।
हटती न दासता पुकार से गुहार से,
इस गंगतीर बैठ आज राष्ट्र शक्ति की
तुम कामना करो किशोर कामना करो ।"[1]

प्रगतिवादी कविता ने मात्र साम्राज्यवादी शोषण के विरूद्धही आवाज नहीं उठाई है, बल्कि उसने पूरे पूँजीवादी शोषण के विरूद्ध बगावत की है । शोषण के परिणाम स्वरूप उत्पन्न आर्थिक विषमता एवं गरीबी का जो चित्र 'सुमन' ने अपनी निम्न कविता में प्रस्तुत किया है, वह त्रासद होने के साथ-साथ व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह का भाव पैदा करने वाला भी है । भूखा आदमी गोबर से दाना बीनने एवं कुत्ते के मुँह से रोटी छीनने के लिए लाचार है :

"हत भूखा मानव बैठा, गोबर से दाना बीन रहा ।
और झपट कुत्ते के मुह से, जूठी रोटी छीन रहा ।।"[2]

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बढ़ी मँहगायी से पीड़ित जनता मँहगाई का कारण नहीं जानती । वह मँहगाईजन्य पीड़ा को अपने पूर्व जन्म का फल समझती है । त्रिलोचनशास्त्री ने इस सारी स्थिति को भोरहा केवट के माध्यम से प्रस्तुत किया है :

"बाबू इस मँहगाई के मारे किसी तरह अब तो
और नहीं जिया जाता
और कब तक चलेगी लड़ाई यह ? - - - - -
इस अकारण पीड़ा का भोरहा उपचार कौन-सा करता
वह तो इसे पूर्व जन्म का प्रसाद कहता था

1- नवीन - पृ0 1, गोपाल सिंह नेपाली ।
2- जीवन के गान - पृ0 79, शिव मंगल सिंह सुमन ।

राष्ट्रों के स्वार्थ और कूटनीति
पूँजीपतियों की चालें
वह समझे तो कैसे ?"[1]

प्रगतिवादी कविता का विद्रोह मात्र -'शोषण के कारण' एवं 'शोषितों की दयनीय दशा' - के चित्रण तक ही सीमित नहीं है । उसने शोषकों के विरूद्ध किसानों मजदूरों का आह्वान करके अपने विद्रोह को वर्ग संघर्ष तक बढ़ाया है । शिव मंगल सिंह सुमन किसानों मजदूरों को शोषकों के विरूद्ध प्रेरित करते हुए कहते हैं :

"तुम गर्जो आज,प्रलय होगी, शोषक वर्गों की क्षय होगी ।
दुनिया के कोने-कोने में, मजलूमों की जय-जय होगी ।"[2]

'अमीरों की हवेली' पर अधिकार करने के लिए निराला शोषितों को कुछ इस तरह आहूत करते हैं :

"जल्द-जल्द पैर बढ़ाओ, आओ, आओ
आज अमीरों की हवेली
किसानों की होगी पाठशाला
धोबी, पासी, चमार,तेली
खोलेंगे अँधेरे का ताला ।"[3]

प्रगतिवादी कविता ने परम्परागत सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था को पूँजी - वादी अर्थतन्त्र की तरह ही आम जनता का शोषक माना है । इस धारा के कवियों ने धर्म एवं ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा के विरूद्ध विद्रोह किया है । सामन्ती व्यवस्था

1- धरती - पृ0 82, त्रिलोचन शास्त्री ।

2- जीवन के गान - पृ0 84, सुमन ।

3- बेला - पृ0 78, निराला ।

चिरकाल से इन्हीं दोनों के सहारे समाज के बहु संख्यकों का शोषण करती आयी है। इसके पोषक अपनी सम्पन्नता और जातीय श्रेष्ठता तथा अन्य लोगों की जातीय न्यूनता एवं आर्थिक विपन्नता को ईश्वरीय विधान बताकर अपने द्वारा किये जा रहे शोषण की तार्किकता स्थापित करते रहे हैं और धर्म के नाम पर लोगों को ठगते रहे हैं। अंचल ने ईश्वर को आत्म प्रवंचक एवं नरेन्द्र शर्मा ने उसे दु:ख, दर्द का जनक कह कर उसकी उपयोगिता पर प्रश्न-चिन्ह लगाया है :

"ऊपर बहुत दूर है शायद, आत्म प्रवंचक एक।
जिसके प्राणों में विस्मृत है, उर में सुख श्री का अतिरेक ।।"[1]
जिसे तुम कहते हो भगवान - - - - ।
जो बरसाता है जीवन में
रोग - शोक दु:ख दैन्य अपार - - - - ।
उसे सुनाने चले पुकार ?"[2]

प्रगतिवादी कवियों ने जाति वैषम्य को नकारा है। उनकी दृष्टि में जातीय विषमता आर्थिक विसंगतियों का परिणाम है। शिव मंगल सिंह सुमन जाति धर्म के भेद को भूख की डोर में बँधा हुआ मानते हैं -

"जाति धर्म के भेद यहाँ सब, बँधे भूख की डोर।
हिन्दू मुस्लिम खींच रहे पर अपनी-अपनी ओर।"[3]

संक्षेप में प्रगतिवादी कविता का विद्रोह विध्वंसात्मक, आमूल परिवर्तन की चेतना से युक्त, एवं सामूहिक है। इसका सारा विद्रोह शोषण एवं आर्थिक सम्बन्धों की विषमता से प्रेरित है।

1- मधूलिका - पृ0 8, अंचल
2- प्रभात फेरी - पृ0 8, नरेन्द्र शर्मा
3- प्रलय सृजन - पृ0 82, शिवमंगल सिंह सुमन ।

§ख§ प्रयोगवाद :- मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर अत्यधिक बल देने के कारण प्रगतिवाद जहाँ एक ओर, उसका प्रचार तन्त्र बन गया, वहीं दूसरी ओर उसकी प्रगतिशीलता कुण्ठित हो गयी और कलापक्ष धुँधला पड़ गया। वर्गमूल्य या सामाजिकता के प्रति अपनी अतिशय प्रतिबद्धता के कारण उसने व्यक्ति मूल्यों को नजरन्दाज कर दिया। प्रगतिवाद अपनी इन न्यूनताओं के कारण द्वितीय विश्व युद्ध के फलस्वरूप राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश में उत्पन्न संकट, संत्रास एवं विसंगतियों को स्वर देने में अक्षम हो गया। ऐसी स्थिति में अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषण एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से शक्ति प्राप्त करके प्रयोगवाद नामक एक नयी काव्यधारा अभ्युदित हुई, जिसका समय सन् 1940 से 1950 के मध्य रहा है। इस काव्यधारा के कवियों ने वस्तु एवं शिल्प के क्षेत्र में नये प्रयोग पर बल दिया। फलत: 'प्रयोगवाद' नाम इसके लिए रूढ़ हो गया।

इस काव्यधारा का विद्रोह प्राय: उन राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक विसंगतियों के प्रति है, जो द्वितीय विश्व युद्ध के परिणाम स्वरूप या तो उत्पन्न हुईं थीं या और जटिल हुई थीं। द्वितीय विश्व युद्ध के कारण स्वतन्त्रता आन्दोलन को काफी झटका लगा और पूरे देश में एक संशय का वातावरण छा गया। ऐसे समय में कुछ लोग अँग्रेजों के खिलाफ आन्दोलन को तेज करना चाहते थे, जबकि गाँधी जी के नेतृत्व में कुछ लोग अँग्रेजों की मजबूरी का फायदा न उठाकर उनका कुछ सहयोग करने के पक्ष में थे। युद्ध के कारण, देश की पहले से ही खराब आर्थिक स्थिति, और खराब हो गयी। बंगाल के अकाल ने लोगों को हिला दिया। मँहगाई एवं दरिद्रता के कारण लोग व्याकुल हो उठे। ब्रिटिश सत्ता द्वारा दमन की प्रक्रिया पूर्ववत जारी रही। इन्हीं परिस्थितियों ने कवियों को विद्रोह करने के लिए बाध्य किया।

प्रयोगवाद में दो प्रकार की प्रवृत्ति वाले कवि हैं - एक जनवादी प्रगतिशील दूसरे व्यक्तिवादी प्रयोगशील । प्रयोगवाद के प्रगतिशील कवियों का विद्रोह वैयक्तिक न होकर सामाजिक है । उन्होंने शोषण करने वाली जनविरोधी शक्तियों की खिलाफत की है । पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति प्रभाकर माचवे का विद्रोह उनकी निम्न कविता में देखा जा सकता है :

"बढ़ती शोषण यन्त्र क्रिया
बीसवीं सदी ने यही दिया ?
जबकि किसी के घर अनेक
जलते हों विद्युद्दीप देख !
तब होगी ही कोई कुटिया
जिसमें जलता होगा न दिया - - - -
पूँजी के युग का अस्तकाल ।"[1]

पूँजीपतियों के प्रति भारत भूषण अग्रवाल का विद्रोही भाव उनकी 'मंजूरी के प्रति' कविता में संचित है, जिसमें उन्होंने शोषकों को, भविष्य में, शोषितों में पनपने वाली शक्ति से आगाह किया है :

"आज के मन्दिर सुख में, रंगीनी में भूली री अलका ।
कुछ तो ध्यान भी है कलका शोषित दल के उठते बलका ।।"[2]

रामविलास शर्मा की निम्न कविता में विद्रोह की गूँज मुखरित है, जिसमें उन्होंने देश के 'नौजवानों' को शोषकों, लुटेरों एवं सारी विसंगतियों से देश की रक्षा के लिए आहूत किया है :

1- तार सप्तक - पृ0 154 - 55, प्रभाकर माचवे सं0 अज्ञेय ।

2- तार सप्तक - पृ0 95, भारत भूषण अग्रवाल , सं0 अज्ञेय ।

"दुर्भिक्ष महामारी से, दुष्ट लुटेरों से
आओ यह अपना प्यारा देश बचाओ
नौजवान भारत के ।"[1]

शोषण अत्याचार एवं अन्याय के प्रति विद्रोह मुक्तिबोध की कविता की एक खास विशेषता है । निम्न कविता में उनके विद्रोह की ज्वाला दहकती प्रतीत होती है :

"मैं जन्मा जबसे इस साले ने कष्ट दिया ।
उल्लू का पट्ठा कन्धे पर खड़ा हुआ ।।"[2]

नेमिचन्द्र जैन की 'व्यर्थ' शीर्षक कविता में प्रगति के मार्ग में विद्यमान सारे अवरोधों के प्रति विद्रोह की हुंकार सुनाई पड़ती है । उनकी फड़कती बाँहें सारे अवरोधों को उखाड़ फेंकने के लिए उत्तेजित है :

"किन्तु मैं हारा नहीं हूँ
फड़कती है अभी बाँह
कि अपने मार्ग के अवरोध सारे तोड़ दूँ ।"[3]

जहाँ तक प्रयोगवाद के प्रयोगशील कवियों की बात है, तो उनके द्वारा अपनी वैयक्तिकता की रक्षा, स्वतन्त्र विचारों के सम्प्रेषण एवं नित नये प्रयोग के लिए साहित्यिक राजनीतिक आदि सारे मतवादों को अस्वीकार किया जाना उनकी विद्रोहशीलता काहीपरिचायक है । लेकिन "जिस वाद का विरोध प्रयोगशील कवियों ने किया वही प्रयोग के दौरान प्रयोगवाद बनकर स्थिर हो गया ।"[4]

1- तार सप्तक - पृ0 242, रामविलास शर्मा, सं0 अज्ञेय ।

2- तार सप्तक - पृ0 40, मुक्तिबोध, सं0 अज्ञेय ।

3- तार सप्तक - पृ0 69-70 नेमिचन्द्र जैन, सं0 अज्ञेय ।

4- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - पृ0 126 - 27, डॉ0 नामवर सिंह ।

प्रयोगशील कवि चरम व्यक्तिवादी हैं। उनके विद्रोह में व्यक्तिवादिता है। सारी रूढ़ियों एवं विसंगतियों के विरूद्ध उनके द्वारा किया गया विद्रोह आत्म रक्षा के लिए है, जनकल्याण के लिए नहीं। "किसान - मजदूर चूल्हे भाड़ में जायें, निम्न मध्यवर्ग का यह बुद्धिजीवी व्यक्ति कुछ और ऊँचे चढ़ जाय। इस तरह इस विद्रोही कवि का 'उच्चमध्यवर्ग' एवं उसकी समाज व्यवस्था के प्रति सारा असंतोष और युयुत्स भाव अन्त में इस प्रस्ताव पर खत्म हुआ, कि उसे संरक्षण प्राप्त है।"[1]

संक्षेप में, प्रयोगवाद में वस्तु एवं शिल्प के क्षेत्र में नये प्रयोगों पर बल देने वाली- जनवादी-प्रगतिशील एवं व्यक्तिवादी प्रयोगशील - दो काव्य धारायें विद्यमान हैं। पहली काव्यधारा की विद्रोही चेतना जनवादी है, जबकि दूसरी काव्यधारा की विद्रोही चेतना व्यक्तिवादी है। प्रयोगवाद के बाद 'नयी कविता' नामक जो काव्यधारा प्रवाहित हुई, वह बहुत कुछ प्रयोगवाद की इसी जनवादी प्रगतिशील काव्यधारा का सरल स्वाभाविक विकास है, जिसमें वस्तु एवं शिल्पगत नये प्रयोगों के प्रति आग्रह नहीं है।

(ग) <u>नयी कविता</u> :- नयी कविता प्रयोगवाद का उत्तरवर्ती स्वरूप है। यह उसकी प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि स्वाभाविक विकास है। कवियों ने कविता में वस्तु एवं शिल्प के नये प्रयोग के प्रति अपने आग्रह का परित्याग करके कविता को वादहीन, सरल एवं स्वाभाविक धरातल प्रदान किया, जिसके परिणामस्वरूप 'नयीकविता' का स्वरूप निर्मित हुआ। यद्यपि नयी कविता का विधिवत विकास 1954 में डॉ० राम - स्वरूप चतुर्वेदी एवं डॉ० जगदीश गुप्त द्वारा सम्पादित "नयी कविता" पत्रिका के

1- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ - पृ० 131 - 32, डॉ० नामवर सिंह।

प्रकाशन से हुआ, लेकिन 1950 के बाद की कविता को डॉ0 शम्भूनाथ सिंह ने 'नयी - कविता' माना है ।[1] नयी कविता की उत्तरवर्ती सीमा सन् 1960 को माना जा सकता है, क्योंकि वस्तु एवं शिल्प की भिन्नता के कारण इसके बाद की कविता को 'साठोत्तरी कविता' नाम दिया गया है ।

राजनैतिक दृष्टि से हम कह सकते हैं कि 'नयी कविता' नेहरू युग' की कविता है । स्वतन्त्रता के बाद देश में एक नयी आशा, विश्वास एवं उत्साह का संचार हुआ, लेकिन नेहरू के नेतृत्व वाली सरकार जनता की आशा, विश्वास एवं उत्साह को बरकरार न रख सकी । स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र की छत्र-छाया में बढ़ते शोषण, आर्थिक विषमता तथा भ्रष्टाचार से लोगों में कुण्ठा, निराशा, वेदना, पीड़ा, आक्रोश एवं विद्रोह का भाव पनपने लगा, जिसकी अभिव्यक्ति नयी कविता में हुई है । 'नयी कविता' के शुरुआत में वेदना, पीड़ाबोध, कुण्ठा एवं निराशा के स्वर प्रखर हैं और आक्रोश एवं विद्रोह के स्वर मन्द हैं । कारण, विसंगतियों को भोगते हुए भी लोगों में स्वतन्त्रता एवं शासन के प्रति मोह एवं विश्वास कायम था । जैसे - जैसे विश्वास एवं आशा के आधार खिसकते गये और मोह-भंग होता गया, वैसे-वैसे नयी कविता में विद्रोह के स्वर प्रखर होते गये ।

मुनि रूपचन्द ने 'अर्धविराम' कविता संग्रह की 'एक सवाल' कविता में समाजवादी मूल्य, आजादी एवं लोकतन्त्रीय व्यवस्था के प्रति अपना विद्रोह प्रकट किया है, क्योंकि ये सब तथाकथित हैं, उनकी सच्चाई शब्दों तक ही सीमित है :

1- प्रयोगवाद एवं नयी कविता - पृ0 145, डॉ0 शम्भूनाथ सिंह ।

"जिस देश ने लोक तन्त्रीय व्यवस्था दी
उसने अपने नागरिकों को समान अधिकार भी दिये हैं ?
हर पन्द्रह अगस्त को धूम-धाम से मनाने वाली जनता ने क्या कभी
आजादी के साँस भी जिये हैं ?
क्या हम झूठी मान्यताओं के किले को आज भी तोड़ सके हैं ?
समाजवादी मूल्यों का ढोल पीटते हुए भी
साम्राज्यवादी मूल्यों को छोड़ सके हैं ?"[1]

मुक्तिबोध की कवितायें तो विद्रोही बयानों से ही बनी हैं। विद्रोह का जैसा तीखापन उनकी कविताओं में है, वैसा तीखापन शायद ही किसी की कविता में दिखायी पड़े। व्यवस्था के शोषक चरित्र के विरूद्ध विद्रोह की एक तीखी चेतना मुक्तिबोध की निम्न कविता में विद्यमान है :

"प्रशोषण सभ्यता की दुष्टता के भव्य देश में
तोड़ने होंगे मठ गढ़ सब
पहुँचना होगा, दुर्गम पहाड़ के उस पार।"[2]

राजीव सक्सेना के काव्य संग्रह "आत्मनिर्वासन एवं अन्य कवितायें" में भारतीय प्रजातन्त्र के कर्णधार शोषक नेताओं के प्रति विद्रोह का भाव निहित है। वे उन्हें फटकारते हुए कहते हैं :

"फूलों का गुलदस्ता
और फलों का रस लेकर
प्यार का आँसू बहाने वाले
ओ आध्यात्मिक
मेरी आँखों के सामने से हटजाओ।"[3]

1- अर्धविराम - पृ0 21-22 - मुनि रूप चन्द ।
2- चाँद का मुँह टेढ़ा - पृ0 299 - मुक्तिबोध ।
3- आत्म निर्वासन तथा अन्य कवितायें - पृ0 14, राजीव सक्सेना ।

राजनीतिक एवं आर्थिक विसंगतियों से हटकर धार्मिक एवं सामाजिक विसंगतियों के विरूद्ध भी 'नयी कविता' ने आवाज उठाई है। उसने उस ईश्वर पर प्रहार किया है जो धर्म एवं समाज का केन्द्र है और जिसकी आड़ में धर्म एवं समाज के ठेकेदारों ने अनेक कुरीतियों को जन्म दिया है। उसकी दृष्टि में ईश्वर समाज में व्याप्त असमानता का जनक है :

"मर गया ईश्वर विषमता का सहायक मर गया
आदमी के हाथ में ही आदमी का भाग्य देकर
विश्व का दैवी विधायक मर गया - - - - -
साइंस की किरणों ने मारा मर गया
वहम का पर्दा उघाड़ा मर गया
आदमी ने जब तलक पूजा अँधेरे में उसे जिन्दा रहा
रोशनी के सामने ज्योंही पुकारा मर गया।"[1]

तथाकथित धर्म के प्रतीक मन्दिरों, मठों, पोथियों एवं पत्थरों पर प्रहार करते हुए रणजीत धर्म को अमान्य घोषित करते हैं :

"नफरत है मुझे अपने धर्म से
पोथियों और पत्थरों का है धर्म मेरा
नंगे शरीरों एवं माँगी हुई रोटियों का है धर्म मेरा
नफरत है - - - - - मठों और मन्दिरों से।"[2]

इस प्रकार 'नयी कविता' में तद्युगीन राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक विसंगतियों के विरूद्ध विद्रोह की चेतना विद्यमान है। लेकिन जहाँ तक

1- ये सपने ये प्रेत - पृ० 11, रणजीत।
2- - वही - पृ० 49

राजनैतिक - आर्थिक विसंगतियों के विरूद्ध विद्रोह की बात है, तो वह 'नयी कविता' की शुरूआत में कम प्रखर था। जैसे - जैसे समय बीतता गया और स्वदेशी शासन से मोह भंग होता गया, वैसे - वैसे इस कविता का सत्ता एवं अर्थव्यवस्था के विरूद्ध विद्रोही तेवर तीखा होता गया। नयी कविता में स्वदेशी व्यवस्था के विरूद्ध कसमसाने वाला विद्रोही भाव साठोत्तरी कविता में अँगड़ाई लेने लगता है। कारण, सन् 1960 तक पहुँचते - पहुँचते निरन्तर जनविरोधी रूख अख्तियार करने वाले व्यवस्थ तन्त्र से जनता एवं कवियों का सारा मोह पूर्णतः समाप्त हो गया और उसके विरूद्ध उनके मन में घृणा, आक्रोश एवं अस्वीकार की तीखी अनुभूति की उत्पत्ति हुई जिससे विद्रोह एकदम प्रबल हो उठा।

अध्याय - तीन

1960 के बाद की हिन्दी कविता : पृष्ठभूमि एवं परिवेश

साठोत्तरी हिन्दी कविता से तात्पर्य, हिन्दी की उन कविताओं से है, जिनकी रचना सन् 1960 के बाद { छठे दशक के बाद } हुई है। यदि राजनीतिक शब्दावली में कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि नेहरू युग के अवसान के बाद की हिन्दी कविता साठोत्तरी कविता है। डॉ0 नामवर सिंह के शब्दों में "साठ की जगह बासठ, तिरसठ, चौसठ जो चाहें कह लीजिए, क्योंकि यह कोई पत्र का मुहूर्त नहीं है। राजनीतिक स्तर पर इसे चीनी या पाकिस्तानी हमले से जोड़ने से लेकर भी ज्यादा बहस नहीं है और न बहस है नेहरू की मृत्यु तिथि से इसका तालमेल बिठाने के सवाल को लेकर। विभाजन का आधार कोई भी घटना मानी जाये, तथ्य यही है कि छठे दशक के साथ एक युगान्त की धारणा पुष्ट हो जाती है, जिसे सुविधा के लिए राजनीतिक भाषा में 'नेहरू युग' का अन्त कह सकते हैं।"[1]

साठोत्तरी कविता विरोध, आक्रोश, अस्वीकार या विद्रोह की कविता है। इसमें विद्यमान विरोध या विद्रोह 'नेहरू युग' एवं उसके बाद की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सांस्कृतिक विसंगतियों का परिणाम है। 1947 से लेकर 1960 तक की स्वतन्त्र भारत की परिस्थितियों ने साठोत्तरी कविता को आधार दिया है और उसके बाद की परिस्थितियों ने इसे विकसित किया है। अतः इन्हें समझे बिना इस कविता में निहित विद्रोह, आक्रोश तथा अन्य मनोभावों को अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता है।

राजनीतिक विसंगति :- 15 अगस्त 1947 को ब्रिटेन के साम्राज्यवादी एवं उपनिवेश - वादी बन्धन से मुक्त होकर भारत ने अपना एक नया राजनीतिक जीवन प्रारम्भ किया

26 जनवरी 1950 को लोकतन्त्रात्मकता, धर्मनिरपेक्षता एवं समाजवाद की भावना से पूर्ण तथा समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म एवं उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्रदान करने के संकल्प से युक्त संविधान लागू किया गया ।[1] संविधान की मान्यताओं, नियमों एवं सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का उत्तरदायित्व कॉंग्रेस को मिला, क्योंकि स्वतन्त्रता के बाद नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस ने ही देश के शासन की बागडोर सम्भाली और देश की सत्ता पर प्राय: उसका ही वर्चस्व रहा । कांग्रेसी शासन प्रारम्भ से ही संवैधानिक मान्यताओं नियमों एवं सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप देने में असफल रहा है । इसका मुख्य कारण यह था कि स्वतन्त्रता के पूर्व कांग्रेस विभिन्न विचारधारा वाले लोगों का एक संगठन था, इसकी अपनी कोई निश्चित विचारधारा नहीं थी । छोटे किसान से लेकर जमींदार तक पूँजीपति से लेकर सामन्त तक, सामन्य व्यक्ति से लेकर बुद्धिजीवी तक सब लोग ब्रिटिश सत्ता से अपने निजी हितों की सुरक्षा के लिए इसका समर्थन करते थे । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक राजनीतिक दल बन जाने पर भी इसकी अपनी कोई निश्चित विचारधारा नहीं स्थापित हो सकी और पहले की ही तरह इसमें विभिन्न विचारधार, उद्देश्य एवं हित वाले लोग बने रहे । विभिन्न विचारधारा, उद्देश्य एवं हित वाले लोगों का राजनीतिक संगठन होने के कारण 'कांग्रेस' अपने शासन के दौरान संविधान का विधिवत अनुपालन नहीं कर सकी, क्योंकि ऐसा करने पर उसके सदस्यों एवं समर्थकों के परस्पर विरोधी विचारों और उद्देश्यों में टकराहट स्वाभाविक थी । इस टकराव

1- भारत का संविधान : एक परिचय - पृ0 21 - डी0डी0 बसु -अनुवादक ब्रज किशोर शर्मा ।

से बचने के लिए कांग्रेस ने वास्तविकता से मुँह मोड़ लिया और अपने हित में समझौता एवं तुष्टीकरण का मार्ग अपनाया ।

कांग्रेस समाजवाद का राग भले ही अलापती रही, लेकिन समाजवाद के ढर्रे पर वह एक कदम भी नहीं चल सकी । कारण,स्वतन्त्रता के पहले से ही उसकी पूँजी - पतियों से घनिष्टता रही है और स्वतन्त्रता के बाद उसके कोष में धन पूँजीपतियों की तिजोरियों से आता रहा है । कांग्रेस की तथाकथित समाजवादी घोषणाओं से पूँजीपति कभी चिन्तित भी नहीं हुए । वे इस सच्चाई को भली भाँति जानते थे कि ये घोषणायें भाषणों एवं कागजों तक ही है । समाजवाद जनता को आकृष्ट करने वाला मुखौटा है, जिसे सत्ता ने अपने मुख पर लगा रखा है । कृष्णकान्त मिश्र के शब्दों में - " 1956 में बिड़ला ने सार्वजनिक रूप से कहा कि वे कांग्रेस दल के समाज - वादी विचारों से सहमत हैं । उसके बाद फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स ने भी बिड़ला के वक्तव्य का समर्थन किया । अतः यह पूँछा जा सकता है कि यह कांग्रेसी समाजवाद कैसा समाजवाद है, जिसका समर्थन बिड़ला जैसे पूँजीपति भी करते हैं ।[1]

सामन्ती ताकतों के प्रति भी कांग्रेस का रवैया बड़ा ढुलमुल रहा है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इस वर्ग के विरुद्ध कांग्रेस द्वारा उठाया गया सैद्धान्तिक कदम जमींदारी उन्मूलन था । लेकिन वह अपने इस कदम को व्यावहारिक रूप देने में असफल रही । कारण,सामन्त एवं जमींदार कांग्रेस के एक सबल अंग थे । उसके इस कदम से इस वर्ग का अहित स्वाभाविक था । अतः जमीदारी उन्मूलन के ऐसे

1- भारत की राजनीतिक प्रणाली - पृ0 277, कृष्णकान्त मिश्र ।

नियम बनाये गये, जिसमें बहुत से छिद्र थे। नियम की कमजोरी के चलते जमींदार वर्ग प्रायः अपनी जमीन को बचाने में सफल हो गये। जमींदारों की भूमि के अधिग्रहण का कार्य आंशिक रूप में ही सफल हुआ।

वास्तविकता तो यह है कि स्वतन्त्रता के बाद कांग्रेस ने देश की किसी भी समस्या का प्रयोग अपने हित में किया। उसने उसके समुचित समाधान के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया, बल्कि तात्कालिक राहत प्रदान करके जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया और स्वहित में पुनर्प्रयोग के लिए समस्या को वैसे बने रहने दिया। जितनी समस्यायें देश के विभिन्न भागों में भड़कती रही हैं, वे कांग्रेस की राहत में समाधान ढूँढने की नीति का परिणाम है। कांग्रेस के कथन एवं कार्य के मध्य सदैव एक बहुत बड़ी खाई विद्यमान रही है। उसने भाषणों, आँकड़ों एवं नारों से सदैव उसे पाटने का प्रयास किया है। कुछ न करते हुए भी वह जनता को भविष्य में बहुत कुछ कर देने का विश्वास दिलाने में समर्थ रही और जनता भी विकल्पहीनता की स्थिति में एक बार और, इस धैर्य के साथ उसे बार-बार सत्तासीन करती रही।

कांग्रेस ने भारतीय जनतन्त्र के ढाँचे को तोड़ने एवं जनतान्त्रिक मूल्यों की अवहेलना करने में कोई कसर नहीं रखा। आजादी के तुरन्त बाद 1949 में हुए तेलंगाना किसान आन्दोलन को क्रूरता के साथ कुचल कर उसने अपने जनविरोधी रूप का जनता को प्रथम साक्षात्कार कराया। 1957 में हुए द्वितीय आम चुनाव में केरल में जनमत द्वारा कम्युनिस्ट सरकार चुनी गयी। लेकिन वहाँ कम्युनिस्ट सरकार का बनना कांग्रेस को अच्छा नहीं लगा। उसने प्रजातांत्रिक मूल्यों को तिलांजलि देकर संविधान का अपने पक्ष में प्रयोग किया और सरकार को गिरा दिया। कांग्रेस का संविधान के ऊपर यह हमला था। इस कृत्य से उसके तथाकथित जनतांत्रिक चरित्र की सच्चाई सामने आ गयी।

कांग्रेस की नीतियाँ एवं गतिविधियाँ धीरे-धीरे निरंकुशता की ओर उन्मुख होती चली गयीं । देश कांग्रेस की तानाशाही का शिकार हो गया । विपक्षीदल अपनी निर्बलता के कारण उसकी निरंकुशता एवं तानाशाही पर अंकुश न लगा सके । विधि एवं संविधान ने कांग्रेस की मनमानी के सामने घुटने टेक दिये । डॉ० शिव प्रसाद सिंह के शब्दों में - "हिन्दुस्तान उसकी बपौती है, जागीर है, जिस पर वह जिस ढंग से चाहे शासन कर सकती है । कांग्रेस एक ऐसी चट्टान है, जिसे भारत की छाती से हटाना मुश्किल है ।"[1]

निरंकुशता एवं तानाशाही की मानसिकता को अपनाने वाली कांग्रेस ने "अपनी सत्ता को बरकरार रखने के चक्कर में पड़कर राष्ट्र में फैल रही अमानवीयता एवं विक्षुब्धता पर ध्यान नहीं दिया । परिणाम स्वरूप देश मिथ्याचार, भ्रष्टाचार एवं अत्याचार का अजायबघर बन गया ।"[2] स्वतन्त्रता के बाद के लगभग तीन दशकों के कांग्रेसी शासन के दौरान देश में उभरी भ्रष्ट एवं पीड़क स्थिति पर टिप्पणी करते हुए तारक अली ने लिखा है " आने वाली कठिनाइयों के लिए न तो सरकार ने जनता को तैयार किया है, न - ही उसका समर्थन प्राप्त किया है । भारतीयों का मुख्य गुण है-सहनशीलता । उनके लिए भारी कराधान पहले से असह्य बोझ में एक और तिनका है । हर सरकारी विभाग में निष्क्रियता और ढिलाई है, सिफारिशें हैं, कुछ लोग जरूरत की चीजें तुरन्त पा जाते हैं, कुछ को महीनों इन्तजार करना पड़ता है, 'जनता की सरकार' जनता के साथ बेहद रूखी है । लोग बसों की कतार

1- आधुनिक परिवेश एवं नवलेखन - पृ० 102, डॉ० शिव प्रसाद सिंह ।

2- समकालीन कविता में जनवादी चेतना - पृ० 257 , डॉ० नकछेद ।

में धक्का मुक्की कर रहे हैं और डाकघरों में,अस्पतालों में, रेलवे के टिकट घरों में, राष्ट्रीयकृत बैंकों में उपेक्षित भारतीय जनगण पसीने में नहाये चीख, चिल्ला और बहस कर रहे हैं, पूरा सरकारी तन्त्र उन्हें हिकारत और उपेक्षा से देख रहा है। जनताराज का केवल यह अर्थ रह गया है कि हर किसी को यह हक हासिल है कि दूसरे को लात मारे, चाहे जिस चीज का ध्वंस करे और पूरी तौर पर दुश्मनी का रवैया अख्तियार किये रहे।"[1] 1947 से 1967 तक की देश की बदहाली के सम्बन्ध में डॉ० शिवप्रसाद सिंह की टिप्पणी कुछ इस प्रकार है - "पिछले बीस वर्षों का कांग्रेसी शासन भारतीय इतिहास में शर्मनाक भिक्षाकाल के नाम से स्मरण किया जायेगा। इस अरसे में कांग्रेस ने देश को पथभ्रष्ट, दिशाहारा और निराश निरीह बनने के लिए मजबूर किया। जलालत, दीनता और अपमान को सहने का स्वभाव बनता गया। हर खतरे के सामने शुतुर्मुर्ग की तरह सिर छिपाकर समस्याओं के टक्कर से बचने की कोशिश जारी रही।"[2] अकाल और भुखमरीसेसंत्रस्त हिन्दुस्तान कांग्रेस पार्टी के नेतृत्वमेंहाथ में भीख माँगने का कटोरा लिये कभी अमेरिका के सामने खड़ा होता,तो कभी ब्रिटेन के पिट्ठू राष्ट्रमण्डलकेसामने।"[3]

स्वतन्त्रता के बाद कांग्रेस की जिस मनमानी, निरंकुशता एवं तानाशाही के कारण देश को बदहाली से गुजरना पड़ा, वह भारतीय राजनीति में विपक्षी दलों द्वारा अपनी भूमिका का भली-भाँति निर्वाह न कर पाने का परिणाम था। प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था के समुचित संचालन में विरोधी दलों का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

1- समकालीन कविता की भूमिका - पृ० 28 - 29, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

2- आधुनिक परिवेश और नवलेखन - पृ० 42 डॉ० शिव प्रसाद सिंह

3- समकालीन कविता में जनवादी चेतना - पृ० 260, डॉ० नरेन्द्र

सत्तारूढ़ दल पर वे अंकुश का काम करते हैं । उसे वे जनकल्याण-विरूद्ध होने से रोकते हैं और संविधान के प्रजातान्त्रिक प्रावधानों के अनुकूल चलने के लिए विवश करते हैं । लेकिन भारत का राजनैतिक इतिहास बताता है कि यहाँ का विपक्ष निहायत कमजोर एवं पारस्परिक फूट से ग्रस्त रहा है । मार्क्सवादी कम्युनिस्ट एवं भारतीय कम्युनिष्ट परस्पर आरोप प्रत्यारोप करते रहे हैं । छोटे-छोटे अन्य वामपंथी दलों के भी आपसी सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे । सोसलिस्ट भी प्रजासोसलिस्ट एवं संयुक्त सोसलिस्ट के रूप में विभक्त रहे । जनसंघ एवं मुस्लिम लीग जैसे दल एक दूसरे का विरोध करते रहे और इनका वामपंथी दलों से भी कोई खास तालमेल नहीं हो सका । विपक्षी दलों की पारस्परिक फूट से उत्पन्न दुर्बलता के कारण काँग्रेस ने उन्हें भारतीय राजनीति में कोई खास महत्व नहीं दिया और वे अपनी दुर्बलता के कारण काँग्रेस की मनमानी पर रोक लगा कर विपक्ष की भूमिका का निर्वाह नहीं कर सके । अंकुश के अभाव में काँग्रेस निरंकुश हुई । उसकी निरंकुशता के चलते देश की जनता ने उससे अपना मोहभंग प्रकट किया । लेकिन "काँग्रेस के प्रति हुए मोहभंग से जहाँ विरोधी दलों को फायदा उठाना चाहिए था, वहीं वे आपसी कलह में उलझे रहे ।"[1]

विपक्षी दल सिद्धान्ततः भले ही काँग्रेस से भिन्न रहे हैं, लेकिन व्यवहारतः वे उसके समरूप ही हैं । जिन बुराइयों से काँग्रेस एवं उसके नेता युक्त हैं, ठीक वही बुराइयाँ विपक्षी दलों एवं उसके नेताओं में भी निहित हैं । अन्तर बस इतना है कि काँग्रेस की गतिविधियों को जनता ने देख लिया है, लेकिन विपक्षी दलों की वास्तविकता से वह भली-भाँति परिचित नहीं है ।

1- साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना - पृ0 102, डॉ0 नरेन्द्र सिंह ।

विपक्षी दलों में जहाँ तक जनसंघ का प्रश्न है, उसे सामन्ती एवं पूँजीवादी शक्तियों से बल मिलता रहा है । अन्य राजनीतिक दल इस पर हिन्दूवादी, पूँजीवादी, दक्षिणपंथी, और साम्प्रदायिक होने का आरोप लगाते रहे हैं । प्रारम्भ में इस दल का कोई व्यापक प्रचार नहीं था । इसे व्यापारियों एवं कुछ उच्चवर्गीय हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त था । यह दल सर्वप्रथम भारत-चीन युद्ध की प्रतिक्रिया में विकसित हुआ । इस युद्ध में भारत की पराजय को इस दल ने कांग्रेस की नीति की खामियों के रूप में पेश किया तथा जनता को अपनी देश - प्रेम एवं राष्ट्रीयता की विचारधारा से काफी आकृष्ट किया । परिणाम स्वरूप 1967 के राज्यविधानसभा चुनावों में इसे उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, हरियाणा एवं पंजाब में काफी सफलता मिली । 1977 में इस दल का विलय 'जनता पार्टी' नामक नये दल में हो गया, जिसे देश के अधिकांश राजनीतिक दलों ने मिलकर कांग्रेस के विकल्प के रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया था । धीरे-धीरे जनता पार्टी टूट गयी और 1980 में जनसंघ, भारतीय जनता पार्टी नामक नये संस्करण के रूप में पेश हुआ । कारण कुछ भी रहा हो, लेकिन सच्चाई यह है कि यह दल समाज के निम्न वर्ग में अपनी पैठ बनाने में सदैव असफल रहा है ।

वामपंथी दल, दलित-शोषित किसानों एवं मजदूरों के हिमायती होने का स्वांग रचते रहे हैं । लेकिन वास्तविकता यह है कि 'वामपंथी दलों का नेतृत्व अधिकांशतः उच्च मध्य वर्ग के उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों से मिलता था । सांस्कृतिक दृष्टि से इनकी मजदूरों एवं श्रमिकों से निकटता हो ही नहीं पाती थी ।'[1] यही कारण है कि सैद्धान्तिक रूप से इनके विचार शोषितों एवं दलितों के पक्ष में रहे हैं,

---

1- साठोत्तरी हिन्दी कविता: परिवर्तित दिशायें - पृ0 21, विजय कुमार ।

लेकिन व्यवहार के स्तर पर, न तो ये अपने को शोषितों के पक्ष में उतार पाये हैं और न उन्हें व्यापक रूप से संगठित ही कर सके हैं। कम्युनिस्ट पार्टी बार -बार टूटती रही है। इस पार्टी का प्रथम विभाजन 1962 में हुए 'भारत - चीन' युद्ध के मुद्दे पर 1964 में हुआ। इस विभाजन के परिणामस्वरूप भारत के राजनीतिक क्षितिज पर 'भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी' एवं मार्क्सवादी कम्युनिस्टपार्टी का उदय हुआ। 1969 में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का पुनः विभाजन हुआ। परिणाम स्वरूप तीसरी कम्युनिस्ट पार्टी "मार्क्सवादी लेनिनवादी" स्थापित हुई। कम्युनिस्ट पार्टी के बार - बार विभाजन के कारण भी किसान मजदूर सशक्त ढंग से संगठित नहीं हो सके। कम्युनिस्ट पार्टी भी अपने को अवसरवादी राजनीति से अलग नहीं रख सकी।

जनसंघ एवं वामपंथी दलों के अतिरिक्त भी ढेर सारे क्षेत्रीय दल समय - समय पर भारतीय राजनीति में बने और बिगड़े। ऐसे राजनीतिक दलों में से अधिकांश असन्तुष्ट कांग्रेसियों द्वारा बनाये गये थे। ऐसे राजनीतिक दल भारतीय राजनीति के मंच पर एकाएक उपस्थित होने और एकाएक नेपथ्य में चले जाने के अतिरिक्त अपनी किसी भूमिका का निर्वाह नहीं कर सके।

"स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही राष्ट्रीय कांग्रेस के देशोद्धार, देश के लिए जेल यातना एवं बलिदान के मूल्य समाप्त हो गये और वे देशोद्धारक भौतिक लाभ, पदरक्षा व अपने आदमियों के संरक्षण में लग गये।"[1] भारतीय राजनीति का चारित्रिक पतन कांग्रेस की सत्ता में किसी तरह बने रहने की नीति का परिणाम है। डा० नकछेद के शब्दों में "वस्तुतः राजनीति में जो भी विकृतियाँ आयीं, उसका सारा श्रेय कांग्रेस

1- नयी कविता के बाद - पृ० 10, डा० ओम प्रकाश अवस्थी।

की ही है ।"[1] स्वतन्त्रता के बाद भारत की सत्ता कांग्रेस के हाथ में उसके द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किये गये व्यापक कार्यों के कारण आयी । ऐसी स्थिति में कांग्रेस को चाहिए था कि वह प्रजातान्त्रिक मान्यताओं एवं संवैधानिक मान्यताओं के आधार पर देश में एक स्वस्थ राजनीतिक परम्परा विकसित करती । लेकिन उसने ऐसा न करके, सत्ता पर अपना स्वाभाविक अधिकार समझा और उसे हथियाये रखने के लिए विशेष—क्षेत्र, भाषा, जाति एवं सम्प्रदाय के तुष्टीकरण, दलबदल तथा जनतान्त्रिक मूल्यों की अवहेलना का सहारा लिया । निर्बल विपक्षी दल कांग्रेस की इन गतिविधियों पर अंकुश तो न लगा सके,लेकिन प्रतिक्रिया स्वरूप उन्होंने भी कांग्रेस की कार्यशैली का देर-सबेर इस्तेमाल करना शुरू किया । सत्ता एवं विपक्षी दलों की इस क्रिया-प्रतिक्रिया के चलते भारतीय राजनीति विकृत होती चली गयी ।

कांग्रेस ने समय-समय पर राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों को गिराने के लिए राज्यपाल का दुरुपयोग किया । अपनी सरकार बनाने के लिए उसने पद एवं धन के प्रलोभन के सहारे दूसरे दलों को तोड़ा और दलबदल कराया । भारतीय राजनीति में दलबदल की प्रक्रिया से राजनीतिक दल आन्तरिक रूप से कमजोर हुए और राजनीति में पदलोलुपता, धनलोलुपता एवं भ्रष्टाचार बढ़ा । आज दलबदल एवं अवसरवाद राजनीति का चरित्र बन गया है । दलबदल रोकने के लिए दलबदल विरोधी कानून बनाया गया, लेकिन अपनी निर्बलता के चलते यह कानून भी दलबदल रोकने में सफल नहीं हो सका । अन्तर इतना हुआ कि दलबदल का स्वरूप बदल गया ।

1- समकालीन कविता में जनवादी चेतना - पृ0 260 , डॉ0 नकछेद ।

चुनाव जीतने के लिए जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद का गणित लगाया जाने लगा। चुनाव क्षेत्र में जाति विशेष की अधिकता के आधार पर प्रत्याशियों का चयन प्रारम्भ हुआ और साम्प्रदायिकता को चुनावी हथियार के रूप में अपनाया गया। "मुसलमानों का इस्तेमाल मात्र वोट बैंक के तौर पर हुआ। धर्मनिरपेक्ष दल भी धर्म निरपेक्षता को नहीं निभा पाये। पिछले सैंतालीस वर्षों में विभिन्न राजनीतिक दलों ने वोट बैंक को ही नजर में रखा और ऐसे ही प्रत्याशी खड़े किये जिनकी जाति अथवा धर्म को मानने वालों का उस चुनाव क्षेत्र में बहुमत हो।"[1] धर्म और जाति के आधार पर वोट की राजनीति के कारण राजनीति में सिद्धान्तहीनता, स्वार्थपरता, संकीर्णता, जातिवादिता एवं साम्प्रदायिकता का समावेश हुआ। धीरे-धीरे राजनीतिक दल प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष रूप में जाति या सम्प्रदाय में बट गये और नेता जनप्रतिनिधि की जगह जाति एवं धर्म प्रतिनिधि बन गये।

किसी भी तरह चुनाव जीतना राजनेताओं का एक मात्र लक्ष्य रह गया। ऐसी स्थिति में चुनाव जीतने के लिए वे अपवित्र से अपवित्र साधन का सहारा लेने पर भी उतारू हो गये। धन एवं शक्ति चुनाव जीतने के साधन बन गये। फलत: राजनीति में अपराधियों का प्रवेश हुआ, जिससे राजनीति का अपराधीकरण तथा अपराधियों का नेताकरण हुआ।

लोकप्रतिनिधियों ने राजनीति को धन कमाने का साधन बनाया, जिससे राजनीति के स्तर पर कमीशनखोरी, घूसखोरी एवं घोटालेबाजी का सिलसिला चल पड़ा, लोकप्रतिनिधियों के इस कृत्य में लोकसेवक सहयोगी बने। लोकप्रतिनिधियों

1- स्वतंत्र भारत - पृ0 6 बुधवार 6 जनवरी 1992 - लेख-ढाँचा ढहने की परिणति, कुलदीप नैय्यर ।

एवं लोकसेवकों की सामूहिक भ्रष्टता के कारण आम आदमी बुरी तरह से त्रस्त हुआ है । "आज पुराने सामन्त भले न रहे हों, किन्तु नेताओं के रूप में नये सामन्त पैदा हो गये हैं, जो जनता की सेवा की आड़ में ऐयाशी करते हैं ।"[1]

समाज एवं जीवन में राजनीति का हस्तक्षेप कदम - कदम पर दिखाई पड़ता है । "आन्दोलन में राजनीतिज्ञ ही सक्रिय होते हैं । यूनियन, दल, संघ, सभा का निर्माण राजनीतिज्ञ करते हैं । हड़ताल, तालाबन्दी में राजनीतिज्ञों का हाथ होता है । विद्यार्थी-आन्दोलन राजनीतिज्ञ कराते हैं । सुनवाई उसी की होती है, जिसके पीछे कोई राजनीतिज्ञ होता है । ग्रामीण क्षेत्रों में इनका प्रभाव पनपा है । बीज, कृषियन्त्र, सिंचाई के साधन बिना राजनीतिज्ञों की सिफारिश के नहीं मिलते । पुलिस उन अपराधियों को नहीं छेड़ती, जो राजनीतिज्ञों से सम्बन्धित होते हैं । : : . . . . राजनेता होना एक प्रलोभनकारी गुण बन गया है ।"[2] "राजनीति व्यवसाय बन गयी है, मतदान कागजी कंचन का दास हो गया है, चुनाव काले धन का गोरा खेल बन गया है ।"[3] सब मिलाकर "स्वतन्त्र भारत में राजनीति कुल्टा हो गयी है तथा डेमोक्रेसी के स्थान पर मावोक्रेसी (उपद्रवतन्त्र) का रंग गाढ़ा प्रतीत हो रहा है ।"[4] राजनीति के इस चारित्रिक पतन एवं विसंगति के चलते आम आदमियों एवं बुद्धिजीवियों को स्वतन्त्रता, संविधान, प्रजातन्त्र, समाजवाद, संसद, चुनाव एवं नेता, सब निरर्थक प्रतीत हुए हैं और इनके विरुद्ध उनके मन में घोर असन्तोष एवं विद्रोह का भाव पनपा है । जिसकी सफल अभिव्यक्ति साठोत्तरी कविता में हुई है

1- द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 43, वार्ष्णेय ।

2- नयी कविता के बाद - पृ0 11 - 12, डॉ0 ओम प्रकाश अवस्थी

3- - वही - पृ0 10 - 11

4- समकालीन कविता में जनवादी चेतना - पृ0 152, डॉ0 नरकेद

भारत - चीन युद्ध :-

भारत के उपर चीन का आक्रमण एक जबरदस्त विश्वासघात था । 29 अप्रैल 1954 के पंचशील समझौते के आधार पर दोनों देशों के मध्य मैत्री संबंध कायम हुआ था और हिन्दी - चीनी भाई - भाई का नारा दिया गया था । इस समझौते में सहअस्तित्व, सीमा उल्लंघन न करना एवं आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप न करना जैसी बातें सामिल थीं । यही नहीं, भारत ने संयुक्तराष्ट्र संघ के स्थायी सदस्यों में चीन को स्थान दिये जाने का पक्ष भी लिया था । लेकिन चीन की नीति विस्तार - वादी थी । वह मित्रता के आवरण में शत्रुता का भाव पाले बैठा था । लेकिन दूसरी ओर चीन से भारत का मन इतना साफ था कि उसने अपने सुरक्षा कवच को ढीला कर दिया था, सैन्य तैयारी पर ध्यान देना बन्द कर दिया था । उसके आयुध कारखानों में युद्ध सामग्री नही, उपभोग-सामग्री बन रही थी । पड़ोसी पर इतना विश्वास कर लेना भारत की कूटनीतिक कमजोरी थी । अपनी विस्तारवादी नीति के चलते चीन ने अपने पड़ोसी देश तिब्बत पर सन् 1959 में आक्रमण कर दिया, जिससे वहाँ के धार्मिक शासक दलायीलामा ने भारत में शरण ली ।[1] भारत द्वारा दलायीलामा को शरण दिया जाना चीन को अच्छा न लगा । अतः उसने पंचशील समझौता एवं मैत्री सम्बन्ध की अवहेलना करके 20 अक्टूबर 1962 को अचानक भारत की उत्तरी पूर्वी सीमा पर आक्रमण कर दिया । भारत के लिए यह आश्चर्यजनक घटना थी । वह किसी भी स्तर पर युद्ध के लिए तैयार नहीं था । 21 नवम्बर 1962 को चीन ने एकतरफा युद्ध बन्द कर दिया, जिस पर आज भी उसका आधिपत्य

1- भारत चीन और उत्तरी सीमाएँ - पृ0 417, डॉ0 राममनोहर लोहिया ।

कायम है । 20 अक्टूबर 1962 के चीनी आक्रमण ने नेहरू की नीतियों को बौना साबित कर दिया । देश की जनता भारत - चीन युद्ध में भारत की पराजय को नेहरू की राजनीतिक एवं कूटनीतिक असफलता के रूप में देखा ।

भारत-चीन युद्ध का साहित्य पर काफी व्यापक प्रभाव पड़ा । जहाँ एक ओर साहित्यकारों ने चीनी विश्वासघात की निन्दा की वहीं दूसरी ओर नेहरू की सुरक्षा नीति पर भी चोट की । शमशेर ने अपनी 'सत्यमेव जयते' कविता में लिखा -

"माओ ने सब कुछ सीखा, एक बात नहीं सीखी
कि झूठ के पाँव नहीं होते
सत्य की जुबान बन्द हो
फिर भी वह गरजता है
सत्य की कसी मुट्ठियाँ सहसा
खुलती है
तो आँधियाँ आती हैं
काल को अपने को दीर्घ बलिदानों में
पहचानने वालों
क्या तुम मूर्ख नहीं हो ?"[1]

अपनी 'पटकथा' कविता में धूमिल ने नेहरू के पंचशील एवं सुरक्षानीति पर चोट करते हुए लिखा है :

"वह हमें विश्व शान्ति और पंचशील के सूत्र
समझाता रहा
x x x
योजनाएँ बनती रहीं
बन्दूकों के कारखानों में
जूते बनते रहे ।"[2]

1- कुका भी हूँ मैं नहीं - पृ० 135, शमशेर बहादुर सिंह
2- संसद से सड़क तक - पृ० 102, धूमिल

आर्थिक बदहाली :-

ब्रिटिश शासन द्वारा किये गये व्यवस्थित शोषण के कारण स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय भारत की अर्थव्यवस्था अत्यन्त दयनीय एवं जर्जर थी । के० पी० एस० सुन्दरम् के शब्दों में - "भारत में ब्रिटिश शासन की कहानी वस्तुत: एक साम्राज्यवादी शासन द्वारा जनता के व्यवस्थित शोषण की कहानी है ।"[1] उसकी प्रत्येक व्यवस्था या प्रणाली भारत के शोषण के लिए ही विकसित की गयी थी । बोर्ड आफ रैवेन्यू मद्रास के प्रेसीडेन्ट जान सुल्लीवान का कथन है कि - " हमारी प्रणाली एक ऐसे स्पंज के रूप में काम करती है, जो गंगा के किनारे से प्रत्येक अच्छी वस्तु को सोख लेती है , फिर टेम्स के किनारे पर निचोड़ देती है ।"[2] ब्रिटिश व्यवस्था द्वारा भारतीय सम्पत्ति के सोखने एवं निचोड़ने की इसी निर्बाध प्रक्रिया के कारण 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय जो अर्थव्यवस्था हमको प्राप्त हुई, वह अत्यन्त दयनीय थी । कृषि एवं उद्योग दोनों का ह्रास हो चुका था । देश आर्थिक संकट से जूझ रहा था ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश के सुव्यवस्थित आर्थिक विकास के लिए भारत सरकार ने सन् 1950 में 'योजना आयोग' की स्थापना की और एक अप्रैल 1951 से प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरुआत के साथ ऐसी योजनाओं की एक श्रृंखला प्रारम्भ हुई । पंचवर्षीय योजनाओं का मुख्य उद्देश्य आर्थिक समृद्धि, आत्म निर्भरता, रोजगार, आर्थिक असमानताओं में कमी, गरीबी निवारण एवं आधुनिकीकरण था ।"[3] लेकिन उपयुक्त दृष्टिकोण के अभाव लोकप्रतिनिधियों एवं लोक सेवकों के भ्रष्ट चरित्र

1- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ० 34 , के० पी० एस० सुन्दरम्

2- आधुनिक भारत का इतिहास - पृ० 625, ग्रोवर

3- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ० 286 , मिश्रा एवं पुरी

और जनता के उत्थान के प्रति उनमें हार्दिक लगाव की कमी के चलते पंचवर्षीय योजनाएँ अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में असफल रहीं है । प्रथम पंचवर्षीय योजना समिति के सचिव श्री त्रिलोक सिंह पंचवर्षीय योजनाओं की त्रुटियों एवं असफलताओं की ओर संकेत करते हुए कहते हैं - "हमारी प्रारम्भिक पंचवर्षीय योजनाएँ देश के भीतर के आर्थिक साधनों को विकसित कर सामाजिक ढाँचे के असन्तुलन को दूर करने, विशाल जनसमूह की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने और कृषि के क्षेत्र में बुनियादी परिवर्तन करने के बजाय विदेशी संसाधनों को जुटाने वाली शापिंग लिस्ट ही अधिक थी ।"[1]

भारत में 80% जनसंख्या गाँवों में निवास करती है और उसका जीवन कृषि पर आधारित है । अतः ग्रामीण जनता के आर्थिक विकास के बिना देश के आर्थिक विकास की प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकती है । लेकिन 80% ग्रामीण या कृषक जनसंख्या वाले भारत देश की सत्ता एक ऐसे शहरी अभिजात वर्ग के हाथ में आयी, जो जौ एवं गेहूँ में अन्तर नहीं जानता था । गाँव की समस्याओं से वह अपने को जोड़ नहीं पाया । गाँव से उसका रिश्ता मात्र वोट तक था । अतः उसने गाँवों पर योजनाओं को केन्द्रित नहीं किया ।

कोई योजना किसी देश का आर्थिक विकास तभी कर सकती है, जब उसकी संरचना देश की परिस्थिति, जनसंख्या के स्वरूप एवं वहाँ के समाज में व्याप्त अन्तर्विरोध को ध्यान में रखकर बनायी जाय । लेकिन पंचवर्षीय योजनाओं की संरचना में इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया गया । स्वतन्त्रता के बाद देश के नेतृत्व की विकास की अवधारणा पश्चिमी देशों के विकसित औद्योगिक ढाँचे पर आधारित

1- सेमीनार - फरवरी 83

थी। कम पूँजी एवं अधिक श्रमवाले भारतवर्ष में पूँजी बहुल औद्योगिक ढाँचे को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि जनसंख्या की तुलना में रोजगार के साधन नहीं बढ़ पाये, जिससे बेरोजगारी बढ़ती चली गयी ।

योजनाओं के संचालन एवं विकास के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती है और पूँजी निर्माण बचत एवं अनावश्यक खर्च में कटौती द्वारा बहुत कुछ सम्भव हो सकता है । के० पी० एस० सुन्दरम् के शब्दों में - "आर्थिक विकास के लिए कोई राजमार्ग नहीं । बिना राष्ट्रीय परित्याग के आर्थिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती ।"[1] जहाँ तक भारतीय जनता का प्रश्न है, तो उससे बचत एवं आवश्यकता में कटौती की उम्मीद की ही नहीं जा सकती, क्योंकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय एवं उसके बाद भी उसका जीवन स्तर निम्न कोटि का रहा है । वह भोजन वस्त्र एवं आवास जैसी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र जीवित रहने भर के लिए ही कर सकी है । उसके लिए उसमें कटौती करके बचत करना अपने अस्तित्व को समाप्त करना है । लेकिन जहाँ तक नेताओं, पूँजीपतियों एवं नौकरशाहों की बात है, उनका जीवन स्वतन्त्रता के सुप्रभात से ही विलासिता से सराबोर रहा है । वे अपनी आवश्यकताओं में कटौती करके देश के विकास के लिए पूँजी सुरक्षित कर सकते थे और आज भी कर सकते हैं । लेकिन ऐसा हुआ नहीं । उनके ऊपर व्यर्थ में पैसा खर्च होता रहा, देश की अर्थव्यवस्था चरमराती रही और जनता गरीबी के भार से कराहती रही । डॉ० राममनोहर लोहिया के शब्दों में - "मैंने हिसाब लगाया कि प्रधान मन्त्री साहब के ऊपर एक दिन का पच्चीस तीस हजार का खर्च

1- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ० 38, के० पी० एस० सुन्दरम् ।

होता है, चाहे उनकी आमदनी न हो,लेकिन वे खर्च करने के लिये स्वतन्त्र हैं ।"
वे आगे लिखते हैं – "आज के समाज एवं युग में बड़ी अच्छी बात यह हो रही है कि
राजनीति में लगे हुए लोगों को आमदनी करने की जरूरत नहीं रहती । राज के
ऊपर उनका इतना कब्जा रहता है कि वे खर्च कर सकते हैं – – – – – – आठ आना
एक तरफ खेत में मजदूर का एक दिन का और दूसरी तरफ पच्चीस हजार रुपये एक
दिन का, यह है हिन्दुस्तान में गैर बराबरी के झूले की पैंग ।"[1]

सुविधा-भोगी नेतृत्व अपनी सुविधाओं में कटौती करके देश में विद्यमान धन
को पूँजी के रूप में संरक्षित नहीं कर पाया । फलत: विकास योजनाओं के संचालन
के लिए उसे विदेशी अनुदान एवं कर्ज अधिक लेना पड़ा और आज स्थिति यह हो
गयी है कि – "ऋण पत्थर के बाट की तरह देश के गले में लटका हुआ है ।"[2] विकास
के नाम पर ऋण आदि के रूप में प्राप्त विदेशी पूँजी एवं स्वदेशी पूँजी का देश में
बड़ा दुरुपयोग किया गया । पूँजी का एक बड़ा हिस्सा देश की जनता की मूल
भूत आवश्यकताओं की पूर्ति का स्थायी साधन न बनकर या तो देश के शासक वर्ग
की अनर्गल आवश्यकताओं का साधन बन गया या फिर उसकी जेब में चला गया ।
विजय कुमार के शब्दों में – "बड़े शहरों में,जहाँ ये नीति निर्माण और उनके कार्य –
पालक बसे हुए थे, गगन चुम्बी इमारतों, आयातितकार, फ्रिज, टेलीवीजन,
वातानुकूलन यन्त्र, कृत्रिम नायलान और उच्च वर्ग की दूसरी तमाम उपभोक्ता
सामग्रियों के निर्माण में पूँजी लगने लगी । – – – – – सार्वजनिक क्षेत्र में बड़े – बड़े

1– सात क्रान्तियाँ – पृ0 9 ., डॉ0 राम मनोहर लोहिया

2– द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास – पृ0 31 वार्ष्णेय

उद्योग जरूर लगाये गये पर ठेके पर काम देने की पूँजीवादी प्रथा बरकरार रही । इससे नौकरशाहों एवं ठेकेदारों के बीच घूस, बेईमानी, निजी ठेकेदारी, इन्तजाम के गलत तरीकों और स्वेच्छाचारिता का चलन बढ़ा । - - - - - जो रुपया विकास एवं निर्माण कार्यों में लगना था, वह लोगों की जेब में जाने लगा । परिणाम स्वरूप सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर बुरी तरह से भ्रष्टाचार फैला ।"[1]

आयोजकों ने पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से देश के आर्थिक विकास एवं गरीबी की समाप्ति के मध्य जो सम्बन्ध स्थापित किया, वह एक तार्किक विचार पर आधारित नहीं था । उनकी सोच थी कि जैसे - जैसे आर्थिक विकास होता जायेगा, वैसे - वैसे गरीबी समाप्त होती जायेगी । लेकिन देश के आर्थिक विकास में देश की प्रति इकाई का आर्थिक विकास निहित हो, यह आवश्यक नहीं है । देश की कुछ जनसंख्या के आर्थिक विकास में भी देश का आर्थिक विकास दिखाई पड़ सकता है । भारत में यही हुआ । आर्थिक विकास की प्रक्रिया में देश के एक वर्ग का आर्थिक विकास होता रहा और दूसरा वर्ग गरीबी में ही फँसा रहा । मिश्रा एवं पुरी के शब्दों में - "अक्सर आर्थिक समृद्धि का लाभ अपेक्षाकृत सम्पन्न वर्ग को होता है और देश में आर्थिक असमानतायें बढ़ती है । भारत में यही हुआ है ।"[2] विकास प्रक्रिया एवं बढ़ती गरीबी पर टिप्पणी करते हुए सुमत दास गुप्त ने लिखा है - "विकास गरीबी को इसलिए बढ़ा रहा है, क्योंकि उसकी अवधारणा में यही बात निहित है - विकास का मतलब है, अमीरी में वृद्धि । यह अमीरी जीवन की लागत को बढ़ाती है और उसके दाम बढ़ने लगते हैं । मूल्य स्तर के साथ-साथ एक वर्ग की तनख्वाहें भी बढ़ती हैं पर औसत: । लेकिन जो लोग इस दायरे में नहीं आते

1- साठोत्तरी कविता : परिवर्तित दिशाएँ - पृ0 14-15, विजय कुमार
2- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ0 286 , मिश्रा एवं पुरी

वे लोग जरूरत की चीजों के दाम बढ़ जाने के कारण गरीब होते जाते हैं ।"[1]
आयोजन एवं आर्थिक विकास के मूल में निहित खामियों तथा लोकप्रतिनिधियों एवं लोक सेवकों की धांधलियों के चलते जनता का योजनाओं से हित नहीं हो सका ।
"जनता के सिर से योजनाएं गुजरती चली गयीं और वह मूर्खवत कोसती कलपती ज्यों-की - त्यों बनी हुई है ।"[2] बेरोजगारी, गरीबी एवं आर्थिक विषमता से उसे निरन्तर जूझना पड़ रहा है ।

बेरोजगारी : एक गहराता संकट :-

स्वतन्त्रता के बाद बेरोजगारी का ग्राफ निरन्तर ऊँचा उठता गया है । बेरोजगारी के कारण राष्ट्र का मानव स्रोत नष्ट हुआ है, क्योंकि रोजगार विहीन युवक कुंठा, निराशा, आक्रोश, रोष आदि मन:स्थितियों से गुजरते हुए कभी विद्रोही हुए, तो कभी पथ भ्रष्ट । बढ़ती हुई जनसंख्या को बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण के रूप में देखना एक सामान्य प्रवृत्ति रही है । लेकिन आजादी के बाद बढ़ी बेरोजगारी का उतना बड़ा कारण जनसंख्या में तीव्र वृद्धि नहीं है। यदि आयोजकों द्वारा रोजगार के प्रति एक सकारात्मक दृष्टि अपनायी गयी होती, तो जनसंख्या वृद्धि के बावजूद भी बेरोजगारी का आतंकित कर देने वाला स्वरूप स्वातन्त्र्योत्तर भारत में न निर्मित हुआ होता और रोजगार की स्थिति में जनसंख्या नियन्त्रण को बल मिलता । बेरोजगारी निवारण की चर्चा विभिन्न योजनाओं में की गयी और इसे भारत में आर्थिक आयोजना का उद्देश्य बताया गया है, लेकिन रोजगार कभी भी आर्थिक आयोजना के मुख्य उद्देश्य के रूप में स्वीकार नहीं किया गया । इस देश में रोजगार पाना व्यक्ति का मूलाधिकार नहीं है । और बेरोजगारी व्यक्ति की निजी समस्या

1- दिनमान - 16 अगस्त , 1980
2- विद्रोह और साहित्य - पृ0 137 सं0 देवेन्द्र इस्सर

मानी जाती है । अतः सरकार की ओर से बेरोजगारी से सम्बन्धित आकड़े एकत्र करने की दिशा में कोई ठोस प्रयास नहीं किया गया है ।[1]

बेरोजगारी दूर करने के लिए शासन ने किसी ठोस एवं दीर्घकालिक नीति को नहीं अपनाया । सच यह है कि आयोजक बढ़ती हुई बेरोजगारी के प्रति उदासीन रहे हैं । सरकार ने विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत उतने भी रोजगार के नये अवसर पैदा करने की कोशिश नहीं की, जितने कि नये लोग श्रम बाजार में आये । नतीजा यह हुआ कि हर पंचवर्षीय योजना समाप्त होने पर बेरोजगारों की संख्या पहले की तुलना में अधिक हो गयी ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय से ही आयोजकों ने रोजगार को निवेश एवं आर्थिक विकास के अनुगामी के रूप में देखना शुरू किया था । रोजगार के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण का बड़ा दोष यह है कि यह इस बात पर गौर नहीं करता कि भारी निवेश अपने आप में रोजगार में विस्तार नही करता । रोजगार के विस्तार के लिए यह बहुत जरूरी है कि निवेश में वृद्धि के साथ-साथ सही तकनीक अपनायी जाय । आर्थिक विकास के द्वारा बेरोजगारी की समस्या का अपने आप समाधान नहीं होता । यह बहुत सम्भव है कि रोजगार आयोजन की ओर ध्यान न दिया जाय,तो आर्थिक विकास की गति तेज होने के बावजूद भी बेरोजगारी की समस्या बनी रहे । जनता सरकार के द्वारा तैयार की गयी पंचवर्षीय योजना 1978 – 83 में पहली बार रोजगार एवं आर्थिक समृद्धि के बीच विरोध की सम्भावना को स्वीकार कर रोजगार को आर्थिक आयोजना का मुख्य उद्देश्य माना गया । इससे पहले वाली योजनाओं

1– भारत की अर्थव्यवस्था – पृ0 295 – मिश्र एवं पुरी

की मान्यता यह थी कि समृद्धि होने से रोजगार के अवसर स्वत: पैदा होते जायेंगे और बेरोजगारी की समस्या समाप्त हो जायेगी । परन्तु,वास्तव में ऐसा हुआ नहीं और समय के साथ बेरोजगारी बढ़ती गयी ।[1]

यदि हम अन्य प्रकार की बेरोजगारी को नजरन्दाज करके मात्र शिक्षित बेरोजगारी के ही आँकड़ों पर ध्यान दें तो स्वतन्त्रता के बाद का इसका स्वरूप कुछ कम भयावह नहीं है । भारत के श्रम तथा रोजगार मन्त्रालय के अनुसार जहाँ 1951 में 2 लाख 44 हजार शिक्षित बेरोजगार थे, वहाँ 1966 में इनकी संख्या 9 लाख 20 हजार और 1971 में 32 लाख 80 हजार थी । 1980 के आरम्भ में लगभग 34 लाख 72 हजार शिक्षित बेरोजगार थे । 1985 में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या 47 लाख आती है ।[2] यह तो मात्र आँकड़ेबाजी है,शिक्षित बेरोजगारों की संख्या इससे कहीं अधिक रही है । लेकिन यदि इसी आकड़े को पूर्णत: सत्य माने तो भी आजादी के बाद के साढ़े तीन दशकों में शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई है । 1951 की तुलना में 1985 में इनकी संख्या 20 गुनी थी ।

गरीबी एक त्रासदी :-

स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में गरीबी भारतीय जनजीवन के एक व्यापक हिस्से में त्रासदी के रूप में उभरी है । उसके लिए गरीबी कोई आकस्मिक एवं नवीन आपदा नहीं रही है,बल्कि स्वतन्त्रता के पूर्व की शताब्दियों को तो उसने इसी के पैरों तले गुजारा था । बात बस इतनी है कि उसे स्वराज्य, स्वशासन एवं प्रजातंत्र

1- भारत की अर्थव्यवस्था - पृ0 192 , के0 पी0 एस0 सुन्दरम्

2- - वही -

में भी गरीबी के पंजे में फंसा रहना पड़ा है । स्वतन्त्रता के बाद के लगभग चार दशकों में विद्यमान गरीबी पर टिप्पणी करते हुए मिश्र एवं पुरी ने लिखा है :"भारत में आज लगभग चालीस वर्ष के आयोजन के बाद भी जनसंख्या का लगभग 40% भाग गरीबी से ग्रस्त है और भयानक अभावों में जी रहा है ।"[1] योजनाओं की एक लम्बी श्रृंखला के गुजर जाने के बाद भी गरीबी के ऐसे त्रासद दृश्य का देश में विद्यमान रहना यह स्पष्ट करता है कि योजनाओं ने गरीबों की बराबर उपेक्षा की है । पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में गरीबी को अलग से विकराल समस्या के रूप में देखने की प्रवृत्ति हमारे नीति निर्माताओं में थी ही नहीं - - - - - 'गरीबी की रेखा' के गणित की शुरूआत तीसरी योजना के समय में अर्थात सातवें दशक के आरम्भ में हुई ।"[2] जबकि गरीबी निवारण का आर्थिक आयोजना के उद्देश्य के रूप में स्पष्ट रूप से पहली बार उल्लेख पाँचवी पंचवर्षीय योजना की प्रारम्भिक रूपरेखा में किया गया था ।"[3] जिस योजना को देश की समस्या के समाधान के साधन के रूप में अपनाया गया हो, यदि उसमें ही गरीबी निवारण को उचित स्थान न दिया जाय, तो गरीबों का गरीब बना रहना स्वाभाविक ही है ।

आयोजकों की सोच थी कि देश की आर्थिक समृद्धि रिसाव के द्वारा जनसंख्या के सभी वर्गों तक पहुँचेगी और गरीबी स्वतः समाप्त हो जायेगी ।[4] यदि विचार करें तो स्पष्ट होगा कि परतन्त्रता के दिनों में मैकाले ने जनसामान्य में शिक्षा के प्रसार

1- भारत की अर्थव्यवस्था - पृ0 264, के0 पी0 एस0 सुन्दरम्

2- साठोत्तरी हिन्दी कविता - परिवर्तित दिशाएँ - पृ0 13, विजय कुमार

3- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ0 301, मिश्र एवं पुरी

4- - वही - पृ0 278

के लिए जिस फिल्ट्रेशन § रिसाव § पद्धति को अपनाया था, उसी को स्वतन्त्रता के दिनों में आयोजकों ने जनसामान्य में समृद्धि के प्रसार के लिए स्वीकार किया। लेकिन जैसे उसके द्वारा शिक्षा का प्रसार नहीं हो सका था, ठीक उसी प्रकार से समृद्धि का भी प्रसार नहीं हो पाया। समाज के धनी वर्ग को आर्थिक विकास का अवश्य लाभ मिला, क्योंकि वे अपनी क्षमता के बलते आर्थिक समृद्धि या विकास के रिसाव को चूसते गये, जबकि दलित या निर्धन वर्ग अपनी अक्षमता के कारण ऐसा न कर सका। अतः वह निर्धन ही बना रहा। आर्थिक विकास एवं औद्योगिक उत्थान से कुछ लोग समृद्ध हुए, लेकिन गरीबी नही दूर हो सकी। अर्थशास्त्री डॉ0 दीनानाथ रांगेकर भारतीय समाज में गहराते हुए आर्थिक संकट पर टिप्पणी करते हुए कहा है : भारत आज अपने को एक अधूरी औद्योगिक क्रान्ति और एक खोखली हो चुकी प्राचीन संस्कृति के अवज्ञापूर्ण प्रतिरोध के बीच ठहरा हुआ पा रहा है। यह उसी जटिल द्वैत का एक पहलू है, जो एक आधुनिक औद्योगिक क्षेत्र के विकास तथा गरीबी ग्रस्त कृषि क्षेत्र की लंगड़ाहट के बीच दिखाई पड़ता है। गाँवों में यह द्वैत हरित क्रान्ति के कारण और गहरा हुआ है, क्योंकि इसके परिणाम स्वरूप भूमिहीन मजदूरों और सीमान्त किसानों की संख्या काफी बढ़ी है। शहरी गरीबी वस्तुतः देहाती गरीबी का ही उच्छिष्ट है। लेकिन गाँवों में रहने वाले गरीब संख्या में ज्यादा बिखरे हुए और असंगठित है। गाँवों में गरीब का कोई सहारा नही है। सरकार वहाँ जो कुछ करती है, उससे अन्ततः अमीरों और शक्तिशाली लोगों को ही फायदा होता है। हमारी पूरी प्रणाली भूमिपतियों, व्यापारियों, साहूकारों और राजनीतिक सूबेदारों का पक्षपात करती है और ऐसा जिन कारणों से होता है, हमारे राजनेता इन्हें बिल्कुल ही छेड़ना नहीं चाहते।"[1]

1- रविवार - 15 - 21 अगस्त, 82

आँकड़े बताते हैं कि 1977 – 78 में 52•82% ग्रामीण जनसंख्या तथा 38•19% शहरी जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन कर रही थी । शहरी एवं ग्रामीण दोनों प्रकार के गरीबों को एक साथ लेने पर सन् 1977-78 में देश की कुल जनसंख्या का 48•13% भाग गरीबी रेखा के नीचे था । छठी योजना में यह स्वीकार किया गया है कि देश की आधी जनसंख्या एक लम्बे अर्से से गरीबी रेखा से नीचे जीवन गुजाररही है ।[1] ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की सीमा रेखा से नीचे जीने वालों की संख्या प्रतिवर्ष पाँच लाख की दर से बढ़ती गयी है । योजना आयोग के एक अनुमान के अनुसार 1979 – 80 में गरीबी की सीमा रेखा के नीचे जीने वाली आबादी 33•90 करोड़ थी, जो कि दुनिया के किसी भी एक देश में गरीबी की सीमा रेखा से नीचे जीने वाली विशालतम आबादी है । विकास की मौजूदा बेमेल नीतियों के कारण इस संख्या के सन् 2000 तक 50 हजार तक पहुँच जाने की आशंका है ।[2]

विषमता की बढ़ती खाई :-

स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में भारतीय समाज में विकास के साथ-साथ आर्थिक विषमता बढ़ती गयी है । आयोजना के प्रारम्भिक दो दशकों में उत्पन्न हुई आर्थिक विषमता की स्थिति पर टिप्पणी करते हुए के0 एन0 राज ने कहा था - "आज आय एवं सम्पत्ति के वितरण की असमानता बढ़ी हुई है और उस समय की तुलना में ज्यादा है, जब आयोजन द्वारा आर्थिक विकास की प्रक्रिया शुरू हुई थी ।[3]

1- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ0 279 , मिश्रा एवं पुरी

2- साठोत्तरी हिन्दी कविता - परिवर्तित दिशाएं - पृ0 18, विजय कुमार

3- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ0 300 , मिश्रा एवं पुरी

विकास के साथ - साथ बढ़ने वाली आर्थिक विषमता का कारण यह था कि जहाँ सारी पंचवर्षीय योजनाओं में विकास पर जोर दिया गया, वहीं आर्थिक असमानता को कम करना किसी भी आयोजना का उद्देश्य नहीं रहा। आयोजकों की धारणा यह रही है कि विकास के साथ - साथ असमानतायें अपने आप कम होती जायेगी। लेकिन "यदि विकास का स्वरूप सामाजिक ढाँचे की आर्थिक विसंगतियों से नहीं जूझता, तो विकास के साथ-साथ अमीरी और गरीबी के बीच की दूरी भी क्रमशः बढ़ती जाती है।"[1] स्वतन्त्रता के बाद भी भारत में सामाजिक ढाँचे की आर्थिक विसंगतियाँ पूर्ववत बनी रहीं, जिसके चलते यहाँ सबको आर्थिक विकास का समान लाभ नहीं प्राप्त हुआ और अमीरी तथा गरीबी की मध्य की खाई चौड़ी होती चली गयी।

जहाँ तक ग्रामीण क्षेत्रों की आर्थिक विषमता का प्रश्न है, वह मूलतः भूमि के स्वामित्व की विषमता का परिणाम है। शासन द्वारा किये गये भूमि सुधार के ढेर सारे दावों के बावजूद भी कृषि भूमि का अधिकांश भाग मात्र कुछ लोगों के ही अधीन रहा है। 1971-72 में जहाँ 40% ग्रामीण जनसंख्या के पास कृषि भूमिका केवल 1.58 भाग था वहाँ 5.44% लोगों के स्वामित्व में 39.43% कृषि भूमि थी।[2] भूस्वामित्व की इस विषमता के कारण भूमिहीन, कृषि-मजदूर एवं निर्धन बने रहे, अल्प भूमि वाले कृषक थोड़ी आय अर्जित कर सके तथा बड़े कृषक निरन्तर विकसित होते गये। ग्रामीण क्षेत्रों की ही तरह शहरी क्षेत्रों में भी आर्थिक विषमता की जड़

1- साठोत्तरी हिन्दी कविता : परिवर्तित दिशायें - पृ0 13, विजय कुमार
2- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ0 301, मिश्र एवं पुरी

गहराती गयी है । वर्ष 1975 -76 में शहरी क्षेत्रों के सबसे सम्पन्न 10% परिवारों के पास वहाँ की कुछ सम्पत्ति का 46·28% था, जबकि नीचे के 60% परिवारों के पास कुल सम्पत्ति का केवल 11·66% था ।[1] स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में आर्थिक विषमता का दृश्य गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक स्पष्ट दिखायी पड़ा है । आर्थिक विषमता की खाई गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक चौड़ी है । वहाँ यदि एक ओर कूड़े से दाना बीन कर खाने वाले लोग हैं, तो दूसरी ओर भोजन पर अपव्यय करने वाले लोग भी हैं । कोई झुग्गी झोपड़ी एवं खुले आकाश के नीचे रात - दिन बिता रहा है, तो कोई भव्य भवनों में भी रह रहा है । कोई चिथड़ों में घूम रहा है, तो कोई बेशकीमती वस्त्राभूषण भी पहने है । कहने का तात्पर्य, शहरों में सम्पन्नता-विपन्नता का एक अद्भुत संगम है, जो गाँवों में नहीं दिखाई पड़ता ।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में देश की जनता ने जिस आर्थिक बदहाली—शोषण, गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी, आर्थिक विषमता आदि को झेला है उसकी साठोत्तर कवियों ने अपनी कविता में जहाँ एक ओर सच्ची तस्वीर पेश की है, वहीं दूसरी ओर आर्थिक बदहाली के लिए जिम्मेदार तत्त्वों को बेनकाब भी किया है ।

भारतीय जनमानस का मोहभंग : आम चुनाव विद्रोह एवं आन्दोलन :-

स्वतन्त्रता के बाद जनता ने देश का शासन कांग्रेस के हाथ में सौंपा । लेकिन उसकी जनविरोधी गतिविधियों के कारण जनता का उससे मोहभंग होने लगा । कांग्रेस से जनता के मोहभंग की शुरुआत 1957 के द्वितीय आम चुनाव में दिखायी पड़ती है और इसके बाद उसका मोहभंग निरन्तर दृढ़ होता गया है । आम चुनावों के परिणामों

1.- भारतीय अर्थव्यवस्था - पृ0 256 , मिश्र एवं पुरी

पर दृष्टि डालें तो, स्पष्ट होता है कि 1957 के द्वितीय आम चुनाव से लेकर 1977 के छठें आम चुनाव तक कांग्रेस का मत प्रतिशत निरन्तर घटता गया है । अनेक राज्यों में उसकी सरकार का तम्बू उखड़ा है और केन्द्र में भी उसकी स्थिति दयनीय होती गयी है ।

1957 के द्वितीय आम चुनाव में केरल में कम्युनिस्ट पार्टी को बहुमत मिला और उसकी सरकार बनी । इस आम चुनाव में आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा एवं पश्चिमी बंगाल में कम्युनिस्ट पार्टी का प्रदर्शन अच्छा रहा । मतप्रतिशत घटने के बावजूद केन्द्र तथा राज्य में कांग्रेस की ही सत्ता रही ।

1962 में हुए तीसरे आम चुनाव में साम्यवादी दल ने कांग्रेस को जबरदस्त टक्कर दी । लोकसभा में 29 स्थानों पर कब्जा करके उसने अपने को कांग्रेस के विपक्ष में खड़ा कर दिया । मध्य प्रदेश एवं राजस्थान में भी कांग्रेस को सत्ता सुरक्षित रखते हुए भी नुकसान उठाना पड़ा । कांग्रेस की साजिश और सच्चाई से विपक्षी दलों ने जनता को जैसे - जैसे अवगत कराया वैसे - वैसे वह कांग्रेस को तिरस्कृत करती गयी ।

1967 में हुए चौथे आम चुनाव में कांग्रेस धराशायी हो गयी । जटिल परिस्थितियों से संत्रस्त जनता ने कांग्रेस को पराजय का मुँह दिखा दिया । केन्द्र में उसके बहुमत के शासन का तम्बू उखड़ गया । मिली जुली सरकार बनी, जिसमें प्रधान मन्त्री पद कांग्रेस के पास ही रहा । कांग्रेस को पंजाब; राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, केरल, मद्रास आदि आठ राज्यों में अपना बहुमत खोना पड़ा ।[1] "कांग्रेस मर गयी . . . . . . इसकी शक्ति अपरिमेय थी,

---

1- समकालीन कविता में जनवादी चेतना - पृ0 141 - 142, 260 (चुनाव के आंकड़े) डॉ0 नरेन्द्र

इसका कुहक असीम । . . . . यह चिरादिम मिश्रित जन्तु की तरह विभिन्न जानवरों के अंगों से बना था । गधे का मुह, शेर का जबड़ा, हाथी के पैर, छिपकली की आँखें, गिरगिट का रंग ।"[1] "भूख और अपमान की ज्वाला में झुलसते इस देश के कुछ हाथों में कांग्रेस की गर्दन आ गयी, और उसने पागल बनमानुष की तरह झकझोरना शुरू किया । कांग्रेस का दम घुट गया और वह गिर गयी ।"[2]

1967 में केन्द्र में श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में बनी संयुक्त या संविद सरकार अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर सकी । फलत: सन् 1971 में मध्यावधि चुनाव के रूप में पाँचवा आम चुनाव हुआ । विकल्पहीनता के चलते ही मोहभंग को सीने में दबाये भारतीय मतदाताओं ने न चाहते हुए भी कांग्रेस को शासक के रूप में चुना । श्रीमती इन्दिरागांधी प्रधान मन्त्री बनीं । उनके नेतृत्व में कांग्रेस सरकार ने 1971 से 77 तक के अपने शासन के दौरान जनता की आकांक्षाओं के अनुकूल कार्य न करके अपनी निरंकुशता एवं तानाशाही का ही परिचय दिया । आपात स्थिति के रूप में उसने जो दमनचक्र चलाया, उससे जनता में उसके प्रति घोर घृणा उत्पन्न हो गयी ।

1977 में छठा आम चुनाव हुआ । इसमें जनता का अभूतपूर्व कांग्रेस विरोधी रुख सामने आया । जनता ने कांग्रेस को पूरी तरह सत्ता से बाहर कर दिया । 1947 से 77 तक के तीस वर्षीय शासन के जुए को जनता ने अपनी गरदन से उतार दिया । कांग्रेस के स्थान पर उसने "जनतापार्टी" को देश की सत्ता सौंपी । जनता पार्टी की सरकार भी एक प्रकार से मिली जुली सरकार थी, क्योंकि वह स्वतन्त्र दल न होकर विभिन्न विचारधारा वाले दलों का संगठन थी । इसमें संगठन कांग्रेस,

---

1- आधुनिक परिवेश और नवलेखन - पृ0 43-44 डॉ0 शिवप्रसाद सिंह
2- वही पृ0 42 - 43

भारतीय लोकदल, जनसंघ, समाजवादी दल और चन्द्रशेखर के नेतृत्व में विद्रोही कांग्रेसियों का विलय हुआ था। पारस्परिक मतभेद के कारण यह सरकार भी अपना कार्यकाल पूरा न कर सकी और 1980 में मध्यावधि चुनाव के रूप में सातवाँ आम चुनाव सम्पन्न हुआ।

1980 के सातवें आम चुनाव में कांग्रेस को पूरी सफलता मिली। जनता का कांग्रेस से बेहतर शासन चलाने का दावा करने वाले विपक्षीदलों से भी मोहभंग हो गया। इस आम चुनाव में कांग्रेस को पुनः चुनना उसकी मजबूरी थी। जनता को सारे दल भ्रष्टाचार के दलदल में फँसे दिखायी पड़ने लगे। सबकी छवि उसकी दृष्टि में एक-सी हो गयी, किसी पर उसे भरोसा नहीं रह गया।

"जो पीढ़ी स्वतन्त्रता के बाद जन्मी, वह पिछले दशक में ही वयस्क हुई। यह पीढ़ी चार आम चुनावों के माहौल में फली फूली पीढ़ी है और राजनीति इसके लिए किसी यूटोपिया को सिद्ध कर दिखाने का सिद्धान्त अथवा आदर्श न होकर उसके पल-पल कठिन होते जाते जीवन संघर्ष को तेज करते जाने की प्रक्रिया का नाम है।"[1] राजनीति के इसी दोगलेपन के कारण जनता में जो असन्तोष एवं मोहभंग का भाव उपजा उसको उसने समय-समय पर हुए आम चुनावों में मतदान के माध्यम से ही नहीं दर्शाया, बल्कि आन्दोलन के रूप में भी प्रदर्शित किया। चाहे नक्सलबाड़ी किसान आन्दोलन हो, या फिर जयप्रकाश नारायण का युवा आन्दोलन तथा पी०ए०सी० विद्रोह, ये सब सत्ता की गलत नीतियों के कारण उपजे असन्तोष एवं मोहभंग के परिणाम थे।

1- कविता से साक्षात्कार - पृ० 165, मलयज

नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह :-

स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में देश के अन्दर यदि सबसे ज्यादा कोई उपेक्षित रहा है, तो वह है कृषक वर्ग। कहने के लिए तो देश में स्वतन्त्रता के बाद जमींदारी उन्मूलन हुआ, लेकिन भूमिहीन कृषक व्यवहारत: इसका कोई लाभ नहीं प्राप्त कर सके, क्योंकि जमींदारी उन्मूलन में इतनी खामियाँ थी और उसको लागू करने में इतना विलम्ब हुआ कि जमींदारों ने अपनी भूमि को प्राय: बचा लिया। जमींदारी उन्मूलन भी हो गया और जमींदारों के पास जमीन भी बची रह गयी। भूमिहीन कृषक या छोटे कृषक स्वतन्त्रता के बाद भी जमींदारों—जो जमींदारी उन्मूलन के बाद बड़े कृषक के नये संस्करण के रूप में उभरे— की भूमि पर बटाईदार या कृषक मजदूर की तरह पहले की ही तरह कार्य करते हुए शोषित होते रहे। भूस्वामित्व विहीनता के कारण, भूमि पर कृषक की असली भूमिका का निर्वाह करते हुए भी उन्हें अपने श्रम की तुलना में बहुत कम हिस्सा प्राप्त होता रहा, जबकि जमींदार अपने भूस्वामित्व के बल पर बिना कुछ किये भी उत्पादन का अधिकांश भाग हड़पते रहे। कृषि उत्पादन में ऐसी हिस्सेदारी के चलते कृषकों की दशा दयनीय होती चली गयी। अन्तत: पश्चिमी बंगाल के नक्सलबाड़ी के किसानों से न रहा गया और उन्होंने मार्च 1967 को आन्दोलन छेड़ दिया। यह आन्दोलन मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में आरम्भ हुआ और शीघ्र ही इसने जमींदार एवं पुलिस के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह का रूप धारण कर लिया। अपने परिश्रम से कमायी गयी फसल पर कृषकों ने अधिकार कर लिया। सारे भूमिहीन कृषक एवं चाय बागान के मजदूर इसमें शामिल हो गये। शासन के समक्ष कृषकों का ऐसा उग्र रूप था, जिसकी उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। नक्सलबाड़ी कृषक विद्रोह यद्यपि कुचल दिया

गया, लेकिन फिर भी उसने देश के समस्त किसानों के समक्ष अपने अधिकार हेतु जूझने की मिसाल पेश की तथा पूँजीवादी एवं सामन्तवादी शक्तियों को झकझोर दिया ।

पी0 ए0 सी0 विद्रोह :-

उत्तर प्रदेश में स्वतन्त्रता के बाद गोविन्द वल्लभ पन्त के मुख्य मंत्रित्व काल में पी0 ए0 सी0 नाम एक अर्द्ध सैनिक बल का गठन किया गया । इसके गठन का उद्देश्य साम्प्रदायिक दंगों एवं विद्रोहों को रोकना था, जिसे रोकने में सामान्य पुलिस नाकामयाब हो जाती थी । इस अर्द्ध सैनिक बल के कार्य पर टिप्पणी करते हुए रविवार साप्ताहिक ने लिखा था -'पचास से सत्तर तक के बीस वर्षों में उत्तर प्रदेश में साम्प्रदायिक दंगों, छात्र, मजदूर, किसान आन्दोलनों तथा सामान्य अशान्ति एवं उपद्रवों के दो दशक रहे हैं । इन दशकों में पी0 ए0 सी0 के आमसिपाही को वर्ष में औसतन 325 से 350 दिनों तक ड्यूटी करनी पड़ी" ।[1]

इतना भारी बोझ उठाने वाले इस अर्द्ध सैनिक बल की दशा बड़ी दयनीय थी । इसके जवानों की नियुक्ति के सारे मापदण्ड सेना के जवानों की तरह थे, लेकिन इनके वेतन, सुविधायें, सेवाशर्तें उनकी तुलना में निम्नकोटि की थी । यही नहीं, अधिकारीगण इनसे अपने व्यक्तिगत नौकर की तरह भी काम लिया करते थे । पी0 ए0 सी0 के जवानों ने अपने साथ हो रहे अत्याचारों का विरोध तथा अपनी माँगों का प्रस्तुतीकरण सरकार के समक्ष प्रजातान्त्रिक ढंग से किया । लेकिन सरकार ने उपेक्षा का भाव अपनाते हुए जनवरी 1973 में इनके संगठन को अवैध घोषित कर दिया । अतः उत्तर प्रदेश की पी0 ए0 सी0 मई 1973 में विवश कर बागी हो

1- रविवार साप्ताहिक - 21 - 27 जून, 1987 , पृ0 33

गयी और पी० ए० सी० की यह बगावत आने वाले दिनों में देश के तमाम सूबों के पुलिस एवं सशस्त्र अर्द्ध सैनिक बलों के विरोध का आधारबिन्दु बनी ।"[1] "मई 1973 में 1857 के सिपाही गदर के ठीक 116 वर्ष के बाद पी० ए० सी० के सिपाहियों ने लखनऊ में दूसरे गदर की घोषणा की । 22 मई 1973 की अर्द्ध रात्रि में पी० ए० सी० के जवान अपनी बेरकों से बाहर निकल आये ।"[2] देखते-देखते यह विद्रोह रामपुर, गोरखपुर, वाराणसी, बरेली, कानपुर आदि नगरों तक फैल गया । इस विद्रोह को दबाने के लिए सेना का प्रयोग हुआ । पी० ए० सी० एवं सेना के मध्य हुए आमने-सामने के युद्ध में दोनों तरफ के सैनिक घायल हुए । अन्तत: सेना अपने पूरे बल प्रयोग द्वारा इस विद्रोह को कुचलने में समर्थ हुई ।

युवा आन्दोलन :-

भारत के बिहार राज्य में मार्च 1974 में खड़ा होने वाला युवा आन्दोलन, जो बाद में देश के कई राज्यों में फैल गया, वैश्विक स्तर पर अपने काल की कोई अकेली घटना नहीं थी । 1965 से 75 के मध्य का एक दशक ही समग्र विश्व में युवा आन्दोलन का काल रहा है । "इस काल में भारतीय युवा पार्टी ही नहीं, प्राय: समूची पूँजीवादी दुनिया की युवा पीढ़ी की कल्याणकारी विश्वासों से भारी आस्था भंग हुई, पूँजीवादी दुनिया में युवक सड़कों पर निकल आये - शिक्षा व्यवस्था, शासनतन्त्र, उद्योगपतियों की धाँधलेबाजी और अमानवीय दृष्टिकोण को चुनौती देते हुए बर्लिन और पेरिस, मिलान और स्टाकहोम, टोकियो और अंकारा, वेस्त और लापरज, ग्वालियर और पटना, भोपाल और कानपुर - सैकड़ों शहर परिवर्तन की माँगों से गूँज उठे ।"[3]

1- रविवार साप्ताहिक 21 - 27 जून 1987, पृ० 33
2- - वही - पृ० 33
3- आलोचना - जनवरी - मार्च, अप्रैल - जून, 1981, पृ० 131

1971 के पाँचवे आम चुनाव के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में सत्ता में आने के बाद कांग्रेस शासन ने जो निरंकुश रुख अपनाया, उससे स्वतन्त्रता एवं जनतंत्र की सारी अवधारणायें विपरीत नजर आने लगी। चारों ओर असन्तोष व्याप्त हो गया। 1973 में गुजरात में असन्तुष्ट युवा छात्र अपनी माँगों को लेकर सड़क पर उतर आये। इसके एक वर्ष बाद 13 मार्च 1974 को बिहार के युवकों ने शासन के अत्याचारों के खिलाफ अपना आन्दोलन जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में, उनके सम्पूर्ण क्रान्ति के नारे के साथ आरम्भ कर दिया।

श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व का सम्बल पाकर यह आन्दोलन केवल बिहार के युवकों का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारत के युवकों का आन्दोलन बन गया गुजरात की धरती में अंकुरित होने वाला यह युवा आन्दोलन बिहार की धरती एवं जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व की उर्वरता पाकर इतना पल्लवित हुआ कि देखते ही देखते उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल तथा मध्य प्रदेश में फैल गया। वैसे तो, जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाला यह आन्दोलन युवकों पर ही आधारित था, लेकिन प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से मजदूर किसान, शासकीय, अशासकीय कर्मचारी भी इसके समर्थक थे। 'सम्पूर्ण क्रान्ति एवं सरकार ठप्प करो' के नारे के साथ प्रबल होते इस आन्दोलन को देखकर सरकार बौखला गयी। बिहार के खगड़िया नामक स्थान पर आन्दोलनकारी छात्रों के जुलूस पर पुलिस ने गोली चलायी। 8 अप्रैल 1974 को जयप्रकाश नारायण की अगुवाई में पटना में एक मौन जुलूस निकाला गया, जिसे असफल बनाने के लिए पुलिस ने भारी बल प्रयोग किया। आन्दोलनकारियों ने बिहार विधान सभा भंग करने की माँग की। अपने को जनवादी बताने वाली कम्युनिस्ट पार्टी ने आन्दोलनकारियों की इस माँग के खिलाफ 3 जून को एक जुलूस निकाला।

बाद में इसी दल ने जयप्रकाश नारायण पर हमला बोलने का नारा देकर अपना जनविरोधी एवं कांग्रेस समर्थक रुख पूरी तरह स्पष्ट कर दिया।

आन्दोलन को और सक्रिय, व्यापक एवं गम्भीर बनाने के लिए जयप्रकाश नारायण ने एक कार्यक्रम की घोषणा की - "।अगस्त से 'कर नहीं' आन्दोलन प्रारम्भ होगा, जुलूस व सभाएँ होंगी। 9 अगस्त को 8 अगस्त 1942 - भारत छोड़ो दिवस की याद में क्रान्ति दिवस मनाया जायेगा और 15 अगस्त जनस्वराज दिवस होगा।"[1] इस कार्यक्रम के एक साथ अनुपालन से आन्दोलन तीव्रतर हो उठा। उत्तर प्रदेश में युवकों ने जहाँ 'नया मोर्चा' गठित करके जयप्रकाश नारायण के इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया वहीं 'लोहिया विचार मंच' ने इसे महाराष्ट्र में गति प्रदान की।

इस युवा आन्दोलन को एक नयी गति तब मिली, जब शासन की शोषक गतिविधियों के विरुद्ध विद्रोही स्वर जन-जन तक पहुँचाने वाले साहित्यकार फणीश्वर नाथ रेणु को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। इस गिरफ्तारी से साहित्यकारों, छात्रों, पत्रकारों एवं अन्य बुद्धिजीवियों में हलचल मच गयी। स्थान - स्थान पर रेणु की गिरफ्तारी के विरोध में प्रदर्शन हुए, लेकिन साहित्यकारों का एक चापलूस वर्ग भी था, जो अपने धर्म को भुलाकर सत्ता की हाँ हजूरी में लगा रहा।

8 सितम्बर को बोलते हुए जयप्रकाश नारायण ने कहा - "बिहार आन्दोलन की तार्किक परिणति दिल्ली से सीधी टक्कर लेने में है। अब तानाशाही को चैन से बैठने नहीं दिया जायेगा। 3 अक्टूबर से कोई ट्रेन नहीं गुजरने दी जायेगी, बसें नहीं चलेंगी, सरकारी दफ्तर में काम नहीं होंगे और दुकाने भी बन्द रहेंगी। अब हमारी दिल्ली से सीधी लड़ाई है, बिहार सरकार से ही नहीं। 3 अक्टूबर के हमारे

1- युवा राजनीति - पृ0 67, श्रीनाथ शर्मा

कार्य क्रम से बिहार सरकार एक हफ्ते के अन्दर धराशायी हो जायेगी ।"[1] 2 अक्टूबर 1974 को जयप्रकाश नारायण ने लाखों प्रदर्शनकारियों को दिल्ली में उतार दिया, जहाँ बिहार विधान सभा भंग करने का प्रधान मन्त्री को ज्ञापन दिया गया और 4 नवम्बर 1974 को पटना में एक विशाल रैली के आयोजन की घोषणा की गयी । 4 नवम्बर 1974 को हुई इस विशाल रैली के साथ पुलिस ने अपना बर्बर रुख अपनाया, जिससे काफी लोग घायल हुए । "चार नवम्बर को भारत सरकार ने जो कुछ पटना में किया, वही अंग्रेज सरकार करती, तो भारत पर सौ वर्ष तक और शासन कर सकती थी ।"[2]

आपात काल :-

युवा आन्दोलन पूरी तीव्रता के साथ चल ही रहा था कि इसी बीच 12 जून 1975 को राजनारायण बनाम इन्दिरागाँधी मुकदमें में सुनाये गये अपने निर्णय में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति श्री जगमोहन लाल सिन्हा ने इन्दिरागाँधी के चुनाव को अवैध घोषित कर दिया । फलत: 25 जून 1975 को दिल्ली के रामलीला मैदान में आयोजित रैली में जयप्रकाश नारायण ने इन्दिरागाँधी से त्याग पत्र की माँग की । युवा आन्दोलन एवं उच्च न्यायालय के निर्णय से आतंकित श्रीमती गाँधी ने 26 जून 1975 को आन्तरिक आपात स्थिति लागू कर दी । आन्दोलनकारी छात्रों, एवं साहित्यकारों को मीसा के अन्तर्गत जेल में डाल दिया गया । आपात काल की घोषणा से लेकर 18 जनवरी 1977 को हुई छठे आम चुनाव की घोषणा तक का काल

1- युवा राजनीति - पृ0 71, श्रीनाथ शर्मा

2- - वही - पृ0 75

प्रशासनिक आतंक का काल था। इस बीच समाचार माध्यमों पर सेंसर लगा रहा, बिना कारण बताये लोगों को जेल में डाला गया और पुलिस प्रशासन की स्वेच्छाचारिता बढ़ी। आम चुनाव की घोषणा के बाद जेल यातना भोग रहे नेताओं को रिहा किया गया। 23 जनवरी 1977 को, विभिन्न दलों के नेताओं ने मिलकर 'जनता पार्टी' का गठन किया। 16 मार्च एवं 20 मार्च 1977 को हुए आम चुनाव में जनता ने इस नवगठित पार्टी को प्रचण्ड बहुमत देकर सत्ता सौंपी और कांग्रेस को धराशायी कर दिया। साठोत्तरी कविता ने मोहभंग एवं असन्तोष के कारण पनपे आन्दोलनों एवं विद्रोहों का समर्थन किया है, उसके स्वर से स्वर मिलाया है और देश की छद्म चुनावी राजनीति पर तीखी चोट की है।

सामाजिक - सांस्कृतिक परिवर्तन :-

स्वतन्त्रता के बाद भारत में स्वीकृत पूँजीवादी व्यवस्था, औद्योगिकीकरण एवं आधुनिक शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने यहाँ की सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं को काफी प्रभावित किया, लोगों की सोच एवं जीवन शैली बदली, एक - एक करके पारम्परिक मूल्य छिन्न - भिन्न हुए और आधुनिकता के नाम पर जहाँ एक ओर, उपयुक्त एवं तार्किक बातें अपनायी गयीं, वहीं दूसरी ओर ढेर सारी अनुपयुक्त एवं अतार्किक बातों को भी स्वीकृति मिली। व्यक्ति से लेकर समाज तक, चिन्तन से लेकर कार्य व्यापार तक और दर्शन से लेकर धर्म तक, हर जगह, कहीं आवश्यकता के तौर पर, कहीं फैशन के तौर पर बदलाव आया। जनसंख्या का स्वरूप बदला, परिवार विखण्डित हुए, यौन सम्बन्ध उन्मुक्त हुआ, अश्लीलता फैशन बनी और धर्म तथा ईश्वर सम्बन्धी पारम्परिक विचार ढह गये।

जनसंख्या का नगरोन्मुख पलायन :-

स्वतन्त्रता के बाद ग्रामीण जनसंख्या का नगरों की ओर बड़ी तीव्रगति से पलायन हुआ। सत्तर के दशक तक ग्रामीण जनसंख्या की भीड़ नगरों में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ने लगी। जनसंख्या के नगरोन्मुख पलायन पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 वार्ष्णेय ने लिखा है - "1960 और 1971 के बीच तीन करोड़ व्यक्ति नगरों में आकर बसे हैं। 1971 में नगरों की आबादी 11.12 करोड़ के लगभग थी, अगले दश वर्षों में उसके 16 करोड़ हो जाने की सम्भावना है।"[1] ग्रामीण जनसंख्या का नगरों में आने का मुख्य कारण रोजगार की तलाश रही है। ग्रामीण संसाधन बढ़ती हुई जनसंख्या की जीविका एवं आवश्यकता की पूर्ति में अक्षम होने लगे। फलत: स्वतन्त्रता के बाद पैदा हुए लोग, जो सत्तर के दशक तक युवा हो गये थे, रोजगार की तलाश में औद्योगिक नगरों एवं सरकारी केन्द्रों में जाने लगे। इन लोगों में शिक्षित एवं अशिक्षित दोनों तरह के युवक रहे हैं। जीविकार्जन के लिए नगरों में आये युवकों ने पाया, कि एक सघन संघर्ष के बाद भी दो जून की रोटी कमा पाना कठिन है। शिक्षित युवकों को जीविका न उपलब्ध करा पाने वाली विद्यालयीन, महाविद्यालयीन एवं विश्वविद्यालयीन शिक्षा व्यर्थ साबित होने लगी।

शहरों में बढ़ती हुई जनसंख्या के परिणाम स्वरूप आवास की समस्या उत्पन्न हुई। किसी तरह दो जून की रोटी कमाने वाले लोग न तो अच्छे घरों को किराये पर ले सके और न अपने लिए अच्छा स्वच्छ घर बना सके। अत: हुआ यह कि सिर छुपाने और रात गुजारने के लिए खाली पड़े गन्दे स्थानों पर झुग्गी झोपड़ियों की बस्तियाँ बसती चली गयीं। जहाँ के सीलन एवं गन्दगी युक्त दमघोटू वातावरण

1- द्वितीय महायुद्धोत्तर, हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 49, वार्ष्णेय

में रहना लोगों की मजबूरी रही है । भारतीय नगर एवं महानगर विषम जीवन शैली के नमूने हैं । जहाँ सड़कके और सुसज्जित आवासों में घोर विलासिता के साधनों के साथ जीवन यापन करने वाले लोगों की जिन्दगी के कामद दृश्य हैं, तो दूसरी ओर कीचड़ में सने, अर्द्धनग्न, कचड़े से दानाबीन कर पेट भरने वाले तथा खुले आकाश के नीचे गर्मी, सर्दी एवं बरसात को झिलाने वाले लोगों की जिन्दगी की त्रासद तश्वीर है ।

वैयक्तिक विखण्डन :-

नगरों, महानगरों की पूँजीवादी एवं उपभोगवादी संस्कृति ने गाँव के स्वस्थ परिवेश से जीविकार्जन के लिए आने वाले युवकों को वैयक्तिक स्तर पर विखण्डित कर दिया । उनकी भावनाओं की सात्विकता एवं कोमलता, वहाँ की यान्त्रिक जीवन पद्धति से चूर-चूर हो गयी । उसने पाया कि यहाँ मनुष्य एकदम मशीन है, जिसे एकदम सधे सधाये ढंग एवं निश्चित रास्ते पर चलते रहना है ।

परिवार के सहानुभूतिपूर्ण वातावरण से अलग हुए लोगों ने नगरों एवं महा - नगरों की मायावी दुनिया में अपने को एकदम अकेला पाया । उसे यह अनुभव हुआ कि न-तो यहाँ उसके अपने व्यक्तित्व की पहचान है और न उसकी पीड़ाओं के प्रति कोई संवेदित होने वाला है । जनसंख्या के महासमुद्र में हर ओर मत्स्य न्याय है, हादसा देखो और गुजर जाओ की सोच है और सौदेबाजी की संस्कृति है । एक ओर वैभव की चकाचौंध है और दूसरी ओर रात-दिन संघर्ष करके भी अस्तित्व को न बचा पाने का संकट है । कदम - कदम पर अपमान और अवमानना है । ऐसी स्थिति में कुण्ठा निराशा, अकेलापन, व्यर्थता बोध, संत्रास, पीड़ा, अवमानना, मानसिक तनाव जैसे नगरीय महानगरीय भाव बोध से गुजरना व्यक्ति की विवशता हो गयी है । इस

मानसिक क्लेश से राहत पाने के लिए वह अपने को मद्यपान, जुआ, वेश्यावृत्ति, अश्लील साहित्य के अध्ययन तथा सतहे मनोरंजन में लिप्त रखता है । ये साधन उसे उसकी मानसिक पीड़ा से कोई स्थायी राहत नहीं, बल्कि एक क्षणिक विमुक्ति ही दिला पाते हैं । ये सारी स्थितियाँ ऐसी हैं, जिससे व्यक्ति वैयक्तिक स्तर पर विखण्डित हुआ है, उसका स्वस्थ भावबोध मरा है और उसे अपने व्यक्ति होने की गरिमा के एहसास से वंचित होना पड़ा है ।

पारिवारिक विखण्डन :-

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय संयुक्त परिवार बड़ी तेजी से विखण्डित हुए हैं और उनका स्वरूप एकाकी होता चला गया है । संयुक्त परिवार की अवधारणा कृषि आधारित समाज की देन थी । गाँव में कृषि के लिए जिस जनसमूह की आवश्यकता होती थी, उसकी पूर्ति एक संयुक्त परिवार ही भली-भाँति कर सकता था । आजीविका के और कोई साधन नहीं थे, फलतः ग्रामीण जनसंख्या संयुक्त परिवार के रूप में इकाई-बद्ध होकर कृषि कार्य में लगी रहती थी । धीरे - धीरे कृषि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ा और वह विशाल जनसमूह को आजीविका प्रदान करने में अक्षम हो गयी । औद्योगीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप नगरों में आजीविका के नये साधन उपलब्ध हुए । शासकीय कार्य के सम्पादन की आवश्यकता ने भी लोगों की जीविका के लिए साधन उपलब्ध कराया । फलतः लोग आजीविका हेतु कृषि आधारित ग्रामीण संयुक्त परिवार छोड़कर औद्योगिक कारखानों एवं सरकारी कार्यालयों में आने लगे । इसी अलगाव से पारिवारिक विखण्डन की शुरुआत हुई ।

कृषि में लोग सामूहिक रूपसे कार्य करते थे और उससे प्राप्त आय पर उनका सामूहिक अधिकार रहता था, जिससे वे उसका सामूहिक उपभोग भी करते थे । लेकिन सरकारी कार्यालयों एवं औद्योगिक कारखानों में कार्य करने वाले लोगों की आय उनके

व्यक्तिगत परिश्रम का फल होती है । अतः वे अपनी व्यक्तिगत आय को संयुक्त परिवार के ऊपर न खर्च करके अपनी पत्नी एवं बच्चों के ऊपर खर्च करना चाहते हैं और अपने वैयक्तिक उत्थान के इच्छुक रहते हैं । संयुक्त परिवार में रहकर अपनी निजी कमाई का स्वच्छन्द उपभोग सम्भव नहीं हो पाता, अतः लोग अपने बीवी बच्चों के साथ संयुक्त परिवार से अलग होते गये हैं । इस प्रकार, हम देखते हैं कि औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप पनपे व्यक्तिवादी, स्वच्छन्दतावादी एवं उपभोगवादी चिन्तन ने भारतीय संयुक्त परिवार की अवधारणा को तोड़ दिया है । पारिवारिक विखण्डन की इस प्रक्रिया से हानि - लाभ दोनों हुए हैं ।

यौन स्वच्छन्दता :-

भारतीय समाज में विवाह को धार्मिक कृत्य, एक संस्कार एवं जन्मजन्मान्तर का सम्बन्ध मानने की जो अवधारणा थी, वह स्वतन्त्रता के बाद धीरे-धीरे अस्वीकृत होने लगी और विवाह को पारस्परिक समझौता एवं कामजन्य शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन मानने का विचार जोर पकड़ता गया । विवाह के सम्बन्ध में पनपी इस अवधारणा ने उसकी जातीय सीमा को तोड़ दिया । शिक्षा औद्योगीकरण एवं सम्पर्क की अन्य परिस्थितियों के कारण विभिन्न जाति धर्म के युवक एवं युवतियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आयीं, जिससे उनके मध्य प्रणय सम्बन्ध स्थापित होने के अवसर उत्पन्न हुए और अन्तर्जातीय विवाहों को बल मिला । विवाह को मात्र समझौता एवं दैहिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन मानने के परिणामस्वरूप तलाक एवं सम्बन्ध विच्छेद की घटनाएं बढ़ती गयी ।

नगरों महानगरों में पूँजीवादी एवं उपभोगतावादी संस्कृति का जो एक लकदक स्वरूप सामने आया, उसके चलते यौन सम्बन्धों की सारी वर्जनाएं समाप्त

हो गयी । यौन-सम्बन्ध उन्मुक्त, स्वच्छन्द एवं उच्छृंखल हो गये । यह उन्मुक्तता, स्वच्छन्दता एवं उच्छृंखलता लोगों को अप्राकृतिक यौन सम्बन्धों की ओर भी ले गयी । स्वच्छन्द यौन सम्बन्धों को फैशन के तौर पर स्वीकार किया गया । फलत: भ्रूण हत्या एवं बलात्संग सामान्य बात हो गयी ।

नारी स्वातन्त्र्य :-

स्वतन्त्रता के बाद धीरे-धीरे स्त्रियों की दशा में सुधार आता गया है । पर्दा प्रथा, जो नारी के व्यक्तित्व के उत्कर्ष में बाधक थी, धीरे-धीरे समाप्त होती गयी है । घर की दीवारों को लाँघ कर स्त्रियों ने जीवन के हर क्षेत्र में पदार्पण किया है । स्त्री-शिक्षा के प्रसार के कारण उनमें गुणवत्ता आयी है, जिससे सरकारी कार्यालयों, व्यक्तिगत संस्थाओं, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, प्रशासन, शिक्षा, राजनीति आदि सभी क्षेत्रों में भागीदारी निभाने में वे सक्षम हुई हैं । शासन ने स्त्रियों को पुरूषों के समकक्ष स्थान प्रदान किया । "हिन्दू उत्तराधिकार कानून द्वारा स्त्री धन पर, स्त्री का अधिकार तथा पुत्री को - - - - - - - अपने पिता की सम्पत्ति में उसके भाइयों - - - - - - - के समान अधिकार दिया गया । स्त्री एवं पुरूष के मध्य शासन द्वारा स्थापित समानता की नीति एवं शिक्षा के प्रसार के चलते स्त्रियों को अपने व्यक्तित्व को निखारने एवं समाज में अपनी पहचान बनाने का अवसर मिला । वे अब पुरूषों की अनुगामी नहीं रहीं, बल्कि सहगामी एवं अग्रगामी की स्थिति तक पहुँच गयीं । इतना होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि सारी स्त्रियों की दशा में व्यापक सुधार हुआ है । लेकिन यह बात जरूर है कि

1- आधुनिक भारत - पृ0 463 - 464 , एल0 पी0 शर्मा

सुधार के लिए अवरूद्ध मार्ग खुल गया है । कुछ भी हो लेकिन इस सच्चाई से भी मुँह नही मोड़ा जा सकता है कि पूँजीवादी एवं उपभोगतावादी संस्कृति के कृत्रिम आकर्षण ने नारी को उपभोग का साधन बनने के लिए सहर्ष तैयार कर लिया है । आज की नारी के भोग्या रूप एवं रीतिकालीन नारी के भोग्या रूप में अन्तर बस इतना है कि जहाँ रीतिकाल में पुरूष ने नारी को भोग्या बनाया था, वहाँ आज नारी समुदाय का एक बड़ा हिस्सा, कारण कुछ भी हो, स्वेच्छा से भोग्या बना है । नारी के प्रति उपभोगवादी दृष्टि में भी कोई बदलाव नहीं आया है, यदि कोई बदलाव है, तो वह है वर्जनाओं से मुक्ति का । वर्जनाओं के टूट जाने के कारण नारी के प्रति उपभोगतावादी दृष्टि उच्छृंखल एवं स्वच्छन्द हो गयी है ।

अश्लीलता : फैशन के रूप में :-

देश में फैली पूँजीवादी एवं उपभोगवादी संस्कृति ने अश्लीलता को धन कमाने के एक हथियार के रूप में अपनाया है । उसने चतुर्दिक अश्लील पत्र-पत्रिकाओं एवं फिल्मों का ऐसा मायाजाल रचा है जिसमें नारी का नग्न एवं अर्धनग्न शरीर ही आकर्षण का केन्द्र है । हताश, निराश एवं कुण्ठा ग्रस्त युवापीढ़ी ने जहाँ क्षणिक उत्तेजना के लिए इनको अपनाया, वहीं सम्पन्न लोगों ने अपनी भोगवादी एवं विलासितापूर्ण वृत्ति की तुष्टि के लिए इनमे रूचि दिखायी है । अश्लीलता मात्र पत्र-पत्रिकाओं एवं फिल्मों तक ही सीमित नहीं है । वह व्यक्ति की वेश-भूषा, शब्द एवं कार्य व्यापार तक व्याप्त है । लोगों ने अश्लीलता को आधुनिकता के नाम पर फैशन के रूप में ओढ़ लिया है ।

मूल्यहीनता एवं संवेदनहीनता :-

स्वतन्त्रता के बाद भारत में जो पूँजीवादी एवं उपभोगवादी संस्कृति पनपी उसने नगरों एवं महानगरों के वातावरण में मूल्यहीनता एवं संवेदनहीनता का विष

घोल दिया, जिसका प्रभाव ग्रामीण वातावरण पर भी हल्का ही सही लेकिन पड़ रहा है। अधिकाधिक उपभोग करने, विलासिता के साधन जुटाने एवं एक भारी पूँजी एकत्र करने की होड़ ने घूसखोरी, बेईमानी, लूट-खसोट, तस्करी, झूठ-फरेब, हत्या, डकैती, तथा अनाचार को जन्म दिया है और सच्चरित्रता, परिश्रम, सादगी, न्याय एवं मानवता के महत्व को भुला दिया है। उपभोग, विलासिता एवं धन की आकर्षक दुनिया के पीछे दौड़ने वाला हर व्यक्ति इतना क्रूर एवं हिंसक हो गया है कि किसी के दुःख-दर्द, पीड़ा एवं विवशता को समझने की उसकी चेतना चुक गयी है। साध्य में निहित स्वार्थपरता के लिए साधन की पवित्रता को तिलांजलि दे दी गयी है। इस लूट-खसोट वाली संस्कृति में नैतिकता बेईमानी हो गयी है और कथन तथा कार्य के मध्य एक भयंकर अन्तराल दिखायी पड़ रहा है। नगरों एवं महानगरों में जड़ जमाये बैठी इस छलफरेब वाली संस्कृति से साक्षात्कार करने वाले ग्रामीण परिवेश के सीधे साधे व्यक्ति के लिए भ्रष्टाचार ही सबसे बड़ी सच्चाई है और सदाचार सबसे बड़ा झूठ। उसके समक्ष दो ही मार्ग हैं - या तो वह इन सबसे चुपचाप समझौता करले या फिर बिना मुँह खोले मूल्यहीनताजन्य अन्तहीन पीड़ा को सहे।

जातियों का राजनीतिकरण एवं उनकी परम्परागत विशेषता में परिवर्तन :

भारतीय समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी जाति व्यवस्था है। जाति विभाजन का आधार कार्य विभाजन रहा है और जातियों का परस्परिक सम्बन्ध कार्य-सम्बंधों पर आधारित रहा है। औद्योगीकरण, आवागमन के साधन एवं शिक्षा के प्रसार के कारण लोगों में जागरूकता आयी, जिससे अब वे अपने जातीय पेशे पर ही आधारित नहीं रहे। उन्होंने उन कार्यों को भी करना आरम्भ किया,

जो उनके जातीय कार्य नहीं थे, लेकिन आर्थिक दृष्टि से लाभकारी थे। स्वतन्त्रता के बाद क्रमशः जातियों के मध्य विद्यमान छुआछूत की भावना मिटती गयी। जैसे-जैसे लोगों में राजनीतिक चेतना विकसित हुई, वैसे-वैसे उनमें जातीय चेतना भी पुष्ट होती गयी। लोग अपने जातीय हित के प्रति अधिक सचेत होने लगे। देश की चुनावी राजनीति ने देश की जातियों का राजनीतीकरण कर दिया। जातियों को वोट बैंक के रूप में संगठित किया गया। परिणाम यह हुआ कि देश में जातिवाद पनपने लगा और जातीय संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने लगी। आज की स्थिति में स्वातन्त्र्योत्तर भारत के समाज का सबसे बड़ा दुर्भाग्य उसमें पनपा जातिवाद है।

धर्म एवं ईश्वर सम्बन्धी धारणा में परिवर्तन :-

स्वतन्त्रता के बाद तीव्रगति से हुए औद्योगीकरण, शिक्षा के विकास एवं वैचारिक आदान प्रदान के कारण लोगों में तार्किकता आयी। समाज के शिक्षित एवं प्रबुद्ध लोगों ने धर्म एवं ईश्वर को तर्क की कसौटी पर कसना आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ, कि दोनों के सम्बन्ध में प्रचलित अन्ध मान्यताओं को नकारा जाने लगा। धर्म एवं उपासना से सम्बन्धित कर्मकाण्डीय आडम्बर को छोड़ा गया। पुरोहित वर्ग के दबाव को भी अस्वीकार कर दिया गया। भाग्यवादी एवं पूर्वजन्मवादी अवधारणा को त्याग कर लोगों ने अपने पुरुषार्थ पर बल दिया। फलतः अपनी किसी भी दुर्गति को ईश्वरीय विधान, पूर्व जन्म का फल या भाग्य मान कर सन्तोष कर जाने की प्रवृत्ति से लोगों को मुक्ति मिली और दुर्गति या विसंगति के प्रति उनके मन में तीव्र असन्तोष पनपा तथा उससे छुटकारा पाने के लिए संघर्ष का मार्ग अपनाया। संसार में कुछ भी दैवी नहीं रह गया, बल्कि हर वस्तु का भौतिक, रसायनिक एवं जैविक विश्लेषण होने लगा। नीत्से के कथन - ईश्वर मर गया - ने लोगों के मन मस्तिष्क

में गहराई तक घुसी ईश्वर की जड़ को यदि उखाड़ा नहीं, तो हिला जरूर दिया। ईश्वर मरा कि नहीं मरा, ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं है, स्थिति चाहे जो है, लेकिन नीत्से के इस कथन से लोगों की हर चीज को ईश्वरीय मानकर जिम्मेदारी से हटने एवं संघर्ष से विमुक्त होने की जो प्रवृत्ति थी टूटने लगी ।

साठोत्तरी कविता ने इन सामाजिक - सांस्कृतिक परिवर्तनों को स्वीकार किया है, लेकिन आँख मूंद कर नहीं । उसने व्यक्ति के व्यक्तित्व को दबाने वाली तथा उसका शोषण करने वाली पारम्परागत सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों पर जितनी चोट की है उतनी ही चोट उसने उन आधुनिक मूल्यों मान्यताओं एवं सामाजिक सांस्कृतिक स्थितियों पर भी की है जो व्यक्ति के व्यक्तित्व को दबाती है उसका शोषण करती है ।

अध्याय - चार

साठोत्तरी हिन्दी कविता : राजनीतिक विद्रोह का पर्याय

साठोत्तरी कविता का विद्रोही स्वर काफी तीखा, व्यापक एवं प्रभावकारी है। फलत: विद्रोह इस दौर की कविता की खास विशेषता हो गयी है। इस कविता में निहित विद्रोह स्वातंत्र्योत्तर भारत में निरन्तर जटिल होती राजनीतिक,आर्थिक एवं सामाजिक विसंगतियों के कारण जन-जीवन में उत्पन्न हुए मोहभंग एवं असन्तोष तथा कवियों के मन में पनपे आधुनिकबोध का परिणाम है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय राजनीति की गतिविधियाँ जनाकांक्षाओं के विपरीत, एवं घातक सिद्ध होती रही हैं। चीन के साथ हुए युद्ध में देश की पराजय से भारतीय राजनीति की कूटनीतिक असफलता सामने आयी। निरन्तर बढ़ते आर्थिक संकट से जनता त्रस्त होती रही। समाज जहाँ एक ओर सड़ी-गली मान्यताओं से जकड़ा रहा,वहीं दूसरी ओर स्वस्थ मूल्यों का पराभव भी होता रहा। ऐसी विषम परिस्थिति में विसंगतियों के विरुद्ध विद्रोह एवं अस्वीकार का स्वर उठाना कवियों की विवशता एवं उनके कविकर्म की आवश्यकता थी।

यद्यपि इस दौर के कवियों में जनजीवन की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी जटिलताओं के प्रति अपना विद्रोही रुख जाहिर किया है, लेकिन फिर भी उनका विद्रोह राजनीति के प्रति अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और सशक्त है। यही कारण है कि साठोत्तरी कविता के विद्रोह को सामान्यत: 'राजनीति के प्रति विद्रोह' के रूप में देखा जाता है। राजनीति के प्रति साठोत्तर कवियों के विद्रोह की तीक्ष्णता एवं

व्यापकता अपेक्षाकृत अधिक होना अकारण नहीं है । वे भलीभाँति जानते हैं,कि आज के परिवेश में राजनीति का सर्वत्र दखल है । जनता को आर्थिक राजनीतिक एवं सामाजिक न्याय दिलाना राजनीति या शासन का उत्तरदायित्व है । आर्थिक एवं सामाजिक विसंगतियाँ, सत्ता की नीतिगति खामियों एवं कार्यविधिगत भ्रष्टाचारों की देन है । राजनीति की सच्चरित्रता से ही सर्वत्र अमन चैन की बहाली संभव है । अत: उन्होंने राजनीति पर अपने विद्रोह को अधिक केन्द्रित किया है ।

साठोत्तरी कविता : हाथ की तरफ उठा हुआ हाथ -

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में सन् 1960 के बाद का समय ढेर सारी विसंगतियों से युक्त रहा है । देश की जनता को जीवन के हर क्षेत्र में इन विसंगतियों से जूझना पड़ा है । फलत: उसके मन में पूरे परिवेश के प्रति घोर असन्तोष, आक्रोश, एवं विद्रोह का भाव पनपा है । पग-पग पर अत्याचार, अन्याय, शोषण एवं भ्रष्टाचार का साक्षात्कार करते हुए जनवादी कवियों ने पाया,कि आज के माहौल में जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई विद्रोह है और अपने अस्तित्व को बरकरार रखने के लिए उसकी आवश्यकता है । परिवेश के दबाव से पनपे इस विचार से कवियों की कविताविषयक पारम्परिक सोच बदल गयी । कविता की परिभाषा बदली, कविता का उद्देश्य बदला, इसे यों कहें कि कविता का पूरा संविधान ही बदल गया । युगीन आवश्यकता एवं सच्चाई,विद्रोह कविता का साध्य बन गया और कविता उसका साधन बन गयी । कवियों ने कविता को व्यवस्था के विरुद्ध लड़ाई का हथियार बनाया । उन्होंने उसका कभी अस्त्र के रूप में प्रयोग किया,कभी शस्त्र के रूप में । व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में कविता को लाठी से लेकर मिसाइल की भूमिका में उतारा गया है । पूर्ववर्ती कविताओं में भी विद्रोह के स्वर हैं, परन्तु साठोत्तरी कविता तो विद्रोह का और विशेष कर राजनीति के

प्रति विद्रोह का पर्याय बन गयी है ।

'आलोकधन्वा' ने 'गोली दागो पोस्टर' कविता में, कविता को कविता नहीं, बल्कि व्यवस्था के विरुद्ध गोली दागने की समझ बताया है । कविता में निहित यही समझ 'लेखनी एवं हल को' तथा 'लेखक एवं किसान' को एक साथ खड़ा करके संघर्ष के लिए तैयार करती है :

"यह कविता नहीं है
यह गोली दागने की समझ है ।
जो तमाम कलम चलाने वालों को
तमाम हल चलाने वालों से मिला रही है ।"[1]

हिन्दी कविता के इतिहास में सर्वप्रथम साठोत्तर दौर की कविता ने ही शोषकों को उनके अत्याचार के जुर्म में सजा सुनायी है । उसके द्वारा सुनायी गयी सजा कोई साधारण सजा नहीं, बल्कि सजाये मौत है । पहले की कविताओं में जान देने की बातें हैं, जान लेने की नहीं । जान लेने की बात यदि कहीं है भी, तो वह सजा के ऐलान के तौर पर न होकर, छापामार कार्यवाही के तौर पर है । वेणुगोपाल की निम्न कविता में हिन्दुस्तानियों के मुसोलोनियों की मौत की सजा का ऐलान कुछ इस प्रकार है :

"सुनो मेरी कविता में उनकी सजा का
ऐलान किया जा रहा है
आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों । और हर पेड़
पर लटकती मिलेगी – हिन्दुस्तानियों के
मुसोलोनियों की लाशें
और – – – – – – – –
इसके बाद भी कुछ कहना बाकी रह जाता है ।"[2]

1– आलोक धन्वा – गोली दागो पोस्टर –, वाम – 2 ।
2– वे हाथ होते – पृ0 69 , वेणुगोपाल ।

साठोत्तरी कविता शोषण और अत्याचार की चक्की में पिसते बेकसूर निर्बल लोगों के पक्ष में दृढ़ता से खड़ी होने वाली तथा उनके समर्थन में जोरदार वकालत करने वाली कविता है । यह कवियों के लिए धन कमाने एवं सत्ता की चापलूसी करके पद - लाभ पाने का साधन नहीं है । यह कविता आदमी को उसकी अहमियत शक्ति एवं अधिकार का बोध कराने एवं उसे प्राप्त करने के लिए संघर्षरत होने की प्रेरणा देने का मन्त्र है :

कविता क्या है ?
कोई पहनावा है ?
कुर्ता पायजामा है ?
ना भाई ना
कविता
शब्दों की अदालत में
मुजरिम के कटघरे में खड़े बेकसूर आदमी का
हलफनामा है
क्या यह व्यक्तित्व बनाने की
खाने कमाने की
चीज है ?
ना भाई ना
कविता भाषा में
आदमी होने की तमीज है ।[1]

इस दौर की कविता शोषण, अत्याचार एवं विसंगतियों से घिरे हुए आदमी के आक्रोश एवं विद्रोह को व्यक्त करती है, उसका काम जीवन-संघर्ष को तीव्र करना एवं

1- संसद से सड़क तक - मुनासिबकारर्वाई - धूमिल ।

जीवन यथार्थ को पेश करना है । उसमें परियों एवं राजारानी की कथा नहीं है । वह धरती की व्यथा से सम्पृक्त है और उसे दूर करने की ऊर्जा से युक्त है :

कविता
घेराव में
किसी बौखलाये हुए आदमी का
संक्षिप्त एकालाप है ।[1]

विद्रोही तेवर के कारण साठोत्तरी कविता का अनुभूति के स्तर पर आदमी से रिश्ता बदल गया है । यह कविता कान से सुनी जाने वाली कविता नहीं, बल्कि पेट से सुनी जाने वाली कविता है । कहने का तात्पर्य, यह कविता पेट की समस्या से जूझने वाली कविता है । इसका कार्य मनोरंजन करना नहीं है । इसे आदमी नहीं गाता, बल्कि यह आदमी को गाती है । यह आम आदमी की समस्या को प्रस्तुत करती है, उन समस्याओं के मूल में निहित सच्चाई को अनावृत्त करती है :

"इस वक्त जबकि कान नहीं सुनते हैं कविताएं
कविता पेट से सुनी जा रही है, आदमी
गजल नहीं गा रहा है गजल
आदमी को गा रही है ।"[2]

साठोत्तरी कविता का विद्रोह एवं जनवादी चरित्र केदार नाथ सिंह के शब्दों में कुछ इस प्रकार है :

"कविता क्या है
हाथ की तरफ
उठा हुआ हाथ
देह की तरफ

1- संसद से सड़क तक - कविता, पृ0 8 , धूमिल

2- संसद से सड़क तक - कवि 1970 पृ0 61 , धूमिल ।

झुकी हुई आत्मा
मृत्यु की तरफ
घूरती हुई आँखे ।[1]

यहाँ केदारनाथ सिंह ने कविता को शोषकों के हाथों के विरुद्ध उठा हुआ हाथ, देह को शक्ति देने वाली आत्मा तथा मृत्यु यानी समुपस्थित आपत्ति पर आग उगलती आँख के रूप में स्वीकार किया है । आज के परिवेश में कविता का यह विद्रोही स्वरूप ही हितकर है । साठोत्तर दौर की कविता में मोम की तरह मुलायमियत नहीं, फौलाद की तरह सख्ती है । यह जन विरोधी व्यवस्था के ऊपर फेंके जाने की मुद्रा में तना हुआ पत्थर है :

"यह कविता नहीं पत्थर है
बिल्कुल ठीक फेंके जाने को तना ।" - ज्ञानेन्द्रपति

कुमार विकल के लिए कविता हथियारों का जखीरा है । उसके बारे में सोचते हुए उन्हें हथियारों के नाम याद आते हैं । यह कविता हथियारों का विकल्प है, सशस्त्र विद्रोह का प्रेरक है:

"जब मैं अपनी कविता के बारे में सोचता हूँ
तो मुझे कई हथियारों के नाम याद आते हैं ।"[2] - एक सामरिक - चुप्पी - कुमार विकल ।

साठोत्तर कवि की लेखनी 'कविता के रूप में युद्ध का मानचित्र बनाती है, जिसे पीड़क व्यवस्था के विरुद्ध लड़े जाने वाले युद्ध में प्रयुक्त किया जाना है । इस कविता में लड़ाई की योजना है, जिसकी सफलता में ही सामान्य जन के भविष्य की सुरक्षा सम्भव है :

1- यहाँ से देखो - पृ0 9, कविता क्या है - केदारनाथ सिंह
2- प्रगतिशील कविता के मील पत्थर - पृ0 278, सं0 डॉ0 रणजीत

"मेरे हाथों में यह जो कलम है
कल की लड़ाई का नक्शा तैयार करने में लगी है ।" -'परेड के घोड़े'
कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह

साठोत्तरी कविता वर्तमान सामाजिक राजनीतिक तन्त्र के षड्यन्त्र की खिलाफत करती हुई, जन सामान्य के समर्थन में खड़ी है :

"विपक्ष में
सिर्फ कविता है
सिर्फ हज्जाम की खुली हुई 'किस्मत' मे एक उस्तुरा
चमक रहा है । -'संसद से सड़क तक'- नक्सलबाड़ी - धूमिल

आज की स्थिति में " दुनिया का सबसे - - - - - - - - - विद्रोही शब्द कविता है ।" - जनशक्ति - विजेन्द्र

जनविद्रोह एवं साठोत्तरी कविता :

भारतीय जनता ने स्वतन्त्रता प्राप्ति को मात्र सत्ता परिवर्तन नहीं समझा था । उसे विश्वास था, कि स्वतन्त्रता के बाद उसे वे मूलभूत सुविधायें एवं अधिकार व्यावहारिक रूप में प्राप्त होंगे, जो मनुष्य को चाहिए और जो गुलामी के दिनों में उपलब्ध नहीं थे । लेकिन स्वतन्त्रता मात्र सत्ता परिवर्तन ही सिद्ध हुई । जनता विदेशी गुलामी से मुक्त होकर स्वदेशी गुलामी के शिकंजे में फँस गयी । स्वदेशी सत्ता जनता को सब्जबाग दिखाती रही, भाषणों से उसका पेट भरा जाता रहा और आंकड़ों से देश की समृद्धि का मानचित्र गढ़ा जाता रहा । सैद्धान्तिक रूप में सब कुछ बेहतर था, लेकिन व्यावहारिक रूप में हर स्थिति बदतर थी । स्वतन्त्रता एवं परतन्त्रता के मध्य 15 अगस्त 1947 की ऐतिहासिक तिथि ही विभाजन रेखा रही है, अन्यथा कोई भी लक्षण ऐसे नहीं रहे हैं, जो आम जनता को स्वतन्त्रता का बोध करा पाते । भूख एवं शोषण की पुरानी स्थिति नये रूप में बरकरार रही । जनता अपनी

हालत के सुधार की प्रतीक्षा शासन के आश्वासन के आधार पर करती रही, लेकिन अन्ततः सारे आश्वासन प्रवंचना साबित हुए । भूखी एवं शोषित जनता का सत्ता एवं स्वतन्त्रता से मोह भंग हो गया । उसका सारा असन्तोष विद्रोह के रूप में फूट पड़ा अपना अधिकार पाने के लिए वह विद्रोह एवं आन्दोलन के मार्ग पर चल पड़ी । ऐसे विद्रोह एवं आन्दोलन साठोत्तर काल में काफी संख्या में उभरे हैं ।

सत्ता ने विद्रोह के कारणों को समाप्त करने के स्थान पर विद्रोहों को ही समाप्त करने की कोशिश की । ऐसा करने के लिए उसने उन्हीं साधनों को अख्तियार किया, जिन्हें परतन्त्रता के दिनों में ब्रिटिश सत्ता ने अपनाया था । स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद सन् 1949 में तेलंगाना में हुए किसान विद्रोह को क्रूरता से कुचल कर सत्ता ने यह साबित कर दिया कि उसमें एवं ब्रिटिश सत्ता में कोई अन्तर नहीं है । इसे छोड़ भी दिया जाये,तो सत्तर के दशक से तो देश के विभिन्न भागों में विद्रोह एवं आन्दोलन की अन्तहीन श्रृंखला की शुरुआत दिखाई पड़ती है । चाहे नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह हो या उ0 प्र0 का पी0 ए0 सी0 विद्रोह, जयप्रकाश नारायण की युवाक्रान्ति हो, या भाषायी आन्दोलन ये सब शासन की गलत नीतियों के परिणाम रहे हैं । साठोत्तरी कविता में इन सारे जनान्दोलनों एवं विद्रोहों को अभिव्यक्ति मिली है । इसने जन विद्रोहों से कदम मिलाया है, उसका समर्थन एवं वकालत की है तथा शोषण धर्मी सत्ता को ललकारा है । साठोत्तरी कविता जनविद्रोहों के धरातल पर ही पनपी है । जनविद्रोहों एवं जनान्दोलनों से आवाज मिलाकर इस कविता ने सत्ता के प्रति अपने विद्रोह को प्रकट किया है, जिसे हम निम्न रूप में देख सकते हैं :

1- नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह : मुख में तनी हुई मुट्ठी का नाम :-

सन् 1967 में बंगाल के नक्सलवाड़ी गाँव में भड़का किसान विद्रोह, आजादी के बीस वर्ष बीत जाने के बाद भी देश की रीढ़ समझे जाने वाले किसानों की दशा को बदतर होने से न रोक पाने वाली स्वदेशी सत्ता के मुख पर एक तमाचा था। इस विद्रोह ने स्वदेशी सत्ता की छत्रछाया में किये जा रहे कृषक शोषण का खुलासा किया और यह स्पष्ट कर दिया कि देश का किसान अब शोषण को और अधिक नहीं सह सकता है। जमींदारों के स्वामित्ववाली भूमि पर अपने परिश्रम से उगाई गयी फसल पर किसानों द्वारा कब्जा करने से इस विद्रोह की शुरूआत हुई। विधि व्यवस्था की स्थापना के नाम पर प्रशासन द्वारा जमींदारों के पक्ष में किसानों पर बल प्रयोग किया गया। अतः उन्होंने सशस्त्र विद्रोह का रास्ता पकड़ लिया। चाय बागानों के शोषित श्रमिकों एवं अन्य भूमिहीन कृषकों के सम्मिलित हो जाने के कारण यह विद्रोह व्यापक एवं सशक्त हो गया। सुसुप्त ज्वालामुखी की तरह भड़के इस विद्रोह से प्रजातन्त्र की गोद में पल रहे सामन्तवाद एवं पूँजीवाद की जड़े हिल गयीं। सत्ता की शक्ति ने विद्रोह को कुचल कर अपने को सामन्तों एवं पूँजीपतियों के खेमें में खड़ा कर दिया। 1949 के तेलंगाना किसान विद्रोह की परम्परा में जन्मे इस कृषक विद्रोह ने अपनी असफलता के बावजूद भी "संसद को बाहर आने की आवाज दी।"[1]

साठोत्तरी कविता पर 'नक्सलबाड़ी विद्रोह' का प्रभाव बड़ा व्यापक रहा है। उसने कविता को एक नई खुराक दी और कवियों के मन को झकझोर कर उन्हें सोचने के लिए विवश किया। फलतः कविता एवं राजनीति का मुकाबला आमने-सामने का हो

1- संसद से सड़क तक - नक्सलबाड़ी - धूमिल।

गया और कवि "अपनी कविता के लिए दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश[1]" में जुट गया। उसने नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह एवं उसी के परिप्रेक्ष्य में किसान जीवन एवं ग्रामीण परिवेश की पीड़ाओं को अपनी कविता में स्थान देकर शोषणधर्मी सत्ता के विरुद्ध अपने आक्रोश एवं विद्रोह को मुखरित किया। नामवर सिंह के शब्दों में - "सन् 1967 के बाद सही है कि एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और आक्रोश को एक स्पष्ट राजनीतिक दिशा मिली, जिसका सम्बन्ध नक्सलबाड़ी आन्दोलन से है। दिशाहीन व्यवस्था विरोध का अन्त हो गया और राजनीतिक चेतना आयी - - - - - उस आन्दोलन के दौरान नगरोन्मुख हिन्दी साहित्य ग्रामोन्मुख किया गया, जो बहुत बड़ी देन है।"

धूमिल की एक कविता है 'नक्सलबाड़ी'। अपनी इस कविता में उन्होंने व्यवस्था पर तीखा प्रहार करते हुए दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश की बात कही है, क्योंकि यह प्रजातन्त्र निरर्थक है, यह 'प्रजा' यानी सामान्य जन के अधिकारों को सुरक्षित रखने में अक्षम है। उस व्यवस्था की अमानवीय नीतियाँ ही नक्सलबाड़ी जैसे विद्रोह के कारण हे। विद्रोह के माध्यम से उभरी जनाकांक्षाओं का उसने सम्मान नहीं किया, बल्कि उसे कुचला है :

> जंगल से जिरह करने के बाद
> उसके साथियों ने उसे समझाया कि भूख
> का इलाज नींद के पास है।
> मगर इस बात से वह सहमत नही था
> विरोध के लिए सही शब्द टटोलते हुए
> उसने पाया कि वह अपनी ज़ुबान -

1- संसद से सड़क तक - नक्सलबाड़ी - धूमिल।

सहुवाइन की जाँघ पर भूल आया है;
फिर भी हकलाते हुए उसने कहा -
'मुझे अपनी कविता के लिए
दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश है ।'[1]

इस पूरे तन्त्र में कृषक जनता अकेली है । कोई भी राजनीतिक दल उसकी रहनुमाई का नाटक अपनी आवश्यकता तक ही करता है । अन्ततः वह भी व्यवस्था के पक्ष में चला जाता है । राजनीति के इस दोगलेपन का शिकार नक्सलबाड़ी विद्रोह भी हुआ था । धूमिल के शब्दों में :

वह सड़क
समझौता बन गयी है
कल तुमने संसद को
बाहर आने के लिए आवाज दी थी
नहीं अब वहाँ कोई नहीं है
मतलब की इबारत से होकर
सबके सब व्यवस्था के पक्ष में
चले गये हैं । लेखपाल की
भाषा के लम्बे सुनसान में
जहाँ पालो और बंजर का फर्क
मिट चुका है चन्द खेत
हथकड़ी पहने खड़े हैं ।[2]

धूमिल जनता को सत्ता एवं राजनीति के छद्म रूप से सावधान रहने के लिए कहते हैं :

1- संसद से सड़क तक - नक्सलबाड़ी - धूमिल ।

2- - वही -

उसकी आँखों में
चमका हुआ भाई चारा
किसी भी रोज, तुम्हारे चेहरे की हरियाली को
बेमुरौव्वत चाट सकता है ।[1]

अपनी 'पटकथा' कविता में धूमिल ने देश में जनता के दो रूपों का जिक्र किया है । उसका एक रूप वह है, जो भूख की आग को पेट में दबाये हुए, हाथ में भीख का कटोरा लेकर दया के लिए रिरिया रहा है और उसका दूसरा रूप वह है, जो भूख के सहारे मुट्ठी ताने नक्सलबाड़ी के रूप में खड़ा है । धूमिल को जनता का 'नक्सलबाड़ी रूप ही पसन्द है, क्योंकि वह अपने हक के लिए सत्ता से दो - दो हाथ करने के लिए तैयार है :

एक ही संविधान के नीचे
भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम
दया है
और भूख में
तनी हुई मुट्ठी का नाम
नक्सलबाड़ी है ।[2]

जगूड़ी भी नक्सलबाड़ी विद्रोह से प्रभावित हैं । उनकी कविता 'बलदेव खटिक' इस प्रभाव का बड़ा स्पष्ट उदाहरण है । अपनी इस कविता में जगूड़ी ने अपने पात्र 'बलदेव खटिक' के माध्यम से शासन को चुनौती दी है । सत्ता के प्रति बलदेव खटिक के मन में उपजा विद्रोह शासन के शोषण एवं अत्याचारों की उन्हीं परिस्थितियों का परिणाम है, जो नक्सलबाड़ी विद्रोह के मूल में थी । संतरी का चोला छोड़कर अपने

1- संसद से सड़क तक - नक्सलबाड़ी - धूमिल ।

2- संसद से सड़क तक - पृ०127 - धूमिल ।

असली रूप में लौटने के बाद 'बलदेव खटिक' का रूप बड़ा उग्र हो गया है । वह व्यवस्था पर आक्रमण करने की दशा में है । जगूड़ी के शब्दों में :

> लेकिन वे जब फायर करेंगे
> तो यह तय है कि इस बार कौवे नहीं मरेंगे
> यानी इस बार निशाना व्यवस्था पर लगेगा ।[1]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने भी नक्सलबाड़ी विद्रोह को अपनी कविता का विषय बनाया है । विद्रोह की असफलता पर उन्हें आश्चर्य है । उनकी आकांक्षा थी कि विद्रोह का पानी खतरे का निशान पार करके विप्लवकारी बने :

> लेकिन यह कैसी विडम्बना है कि :
> पानी कभी खतरे का निशान पार नहीं कर पाया
> हर बार पछाड़ खा-खाकर शान्त हो गया है
> एकाध पुश्ते टूटे है
> एकाध गाँव डूबे हैं
> नक्सलबाड़ी, श्री काकुलम, मुसहरी ।[2]

2- पी० ए० सी० विद्रोह : 'वर्दी से बाहर निकल कर रोटी की माँग'-

उत्तर प्रदेश में 22 मई 1973 को हुआ पी० ए० सी० विद्रोह भी सत्ता द्वारा किये जा रहे शोषण का परिणाम था । पी० ए० सी० जवानों की समस्याओं की उपेक्षा, जब शासन निरन्तर करता रहा, तो उन्हें अपने हितों की सुरक्षा के लिए सशस्त्र विद्रोह का सहारा लेना पड़ा । यद्यपि शासन ने सैनिक कार्यवाही करके इस विद्रोह को कुचल दिया, लेकिन तत्कालीन कविता ने इस विद्रोह को जिन्दा रखा ।

1- बची हुई पृथ्वी - पृ० 101 , लीलाधर जगूड़ी ।

2- कुआनो नदी - कुआनो नदी खतरे का निशान - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ।

और विद्रोहियों की माँगों का समर्थन किया। धूमिल ने अपनी कविता 'निहत्थे आदमी से कहा' में पी० ए० सी० विद्रोह को 'वर्दी से बाहर निकल कर रोटी की माँग' कहा है :

> सुबह जब बड़ी बन्दूक
> छोटी बन्दूक का नाश्ता कर रही थी
> मैंने निहत्थे आदमी को
> गाँव की तरफ जाते हुए देखा –
> पगडंडी पर खाली हाथ जाते हुए भाई।
> वर्दी के बाहर निकल कर
> रोटी की माँग की थी ?
> या किसी नागरिक प्रत्याशा में
> छोटे भाई के सिर पर प्रहार करने से
> मना किया था ?[1]

3– युवा आन्दोलन : सम्पूर्ण क्रान्ति का प्रयास

जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में, सम्पूर्ण क्रान्ति के उद्देश्य से, सन् 1974 में शुरू हुआ युवा आन्दोलन, स्वतन्त्र भारत का पहला जनविद्रोह था, जिसमें काँग्रेसी सत्ता को उलट देने की चेतना निहित थी। इस आन्दोलन ने काँग्रेस के 30 वर्षीय शासन को 1977 के आम चुनाव में धराशायी करके धूल चटा दिया। युवा शक्ति के सहारे खड़े इस आन्दोलन में देश के जन-जन का आक्रोश एवं विद्रोह निहित था। हिन्दी कविता भी इस आन्दोलन से आन्दोलित हुए बिना नहीं रह पायी। नागार्जुन की कविता –'क्रान्ति सुगबुगाई है' इसी आन्दोलन से सम्बन्धित है :

1– सुदामा पाण्डेय का प्रजातन्त्र – पृ० 64 – धूमिल ।

क्रान्ति सुगबुगाई है
करवट बदली है क्रान्ति ने
मगर वह अब भी उसी तरह लेटी है ।
एक बार इस ओर देख कर
उसने फिर से फेर लिया है
अपना मुह उसी ओर
'सम्पूर्ण क्रान्ति' और समग्र विप्लव के मंजु घोष
इसके कानों के अन्दर
खीझ भर रहे हैं या गुदगुदी
यह आज नहीं कल बता सकूँगा ।[1]

4- आपातकाल : एक नारकीय यान्त्रणा -

युवा आक्रोश से भयभीत तत्कालीन कांग्रेस शासन ने 26 जून 1975 को आन्तरिक आपातकाल की घोषणा करके संविधान की आड़ में आन्दोलन को कुचलने के लिए क्रूर कदम उठाया । विरोधी नेताओं एवं आन्दोलनकारी युवाओं को झूठे आरोपों के तहत नारकीय यान्त्रणा सहने के लिए जेल में डाल दिया गया । लाठी, गोली एवं आँसू गैस के प्रयोग से तमाम आन्दोलनकारी मारे गये और घायल हुए । नागार्जुन ने अपनी कविता 'क्रान्ति सुगबुगाई है' में आपातकालीन पुलिस यान्त्रणा का निम्न चित्र प्रस्तुत किया है :

मोटे सलाखों वाली काली दीवार के उस पार
लट्ठधारी साधारण पुलिसमैन नहीं है
- - - - - नारकीय यंत्रणा देकर
तथाकथित 'अभियोग कबूल करवाने वाले
एलेक्ट्रिक कण्डक्टर हैं ।[2]

1- नागार्जुन - चुनी हुई रचनाएं - भाग दो, पृ0 163
2- वही पृ0 221

कवियों एवं अन्य साहित्यकारों ने आपातकाल के दौरान शासन द्वारा किये गये अत्याचारों का खुला विरोध किया है । यह बात जरूर है, कि कुछ साहित्य - कार अपने कर्तव्य से विमुख होकर सत्ता की चापलूसी में भी लगे रहे और विद्रोही कवियों के खिलाफ षड्यन्त्र करते रहे । अनेक कवियों एवं लेखकों को जेल में डाल दिया गया, लेकिन उनकी विद्रोही चेतना सत्ता के आपातकालीन अत्याचारों से मुरझायी नहीं । नागार्जुन ने अपनी कविता 'सूरज सहम कर उगेगा' में आपातकालीन आतंक का चित्रण करते हुए लिखा है, कि सूरज जैसा खगोलीय पिण्ड भी भारत के आकाश पर आपात् काल से सहम कर उगेगा । उनका यह लाक्षणिक कथन आतंक की भयंकरता की ओर संकेत करते हुए स्पष्ट करता है, कि खरे, तपेतपाये एवं निर्दोष लोग इससे प्रभावित है :

लगता है
हिन्द के आसमान में
सूरज पर भी लागू होंगे
आपातकालीन स्थिति वाले आर्डिनेंस
लगता है
हिन्द के आसमान में
अब सूरज सहम कर उगेगा ।[1]

आपात् काल के दौरान समाचार पत्रों पर बड़ा सख्त प्रतिबन्ध था, जिसके चलते सत्ता के अत्याचार उसमे नहीं छपे जब कि व्यर्थ की खबरें छपती रहीं । लेकिन साहित्यकारों की लेखनी पर कोई प्रतिबन्ध कारगर नहीं हुआ । वे आततायी शासन की पोल खोलते रहे । अरुण कमल ने बड़े व्यंग्यात्म ढंग से लिखा है :

1- नागार्जुन की चुनी कवितायें - भाग दो , पृ0 22। ।

अखबारों की खबर थी
कैलीफोर्निया की एक कुतिया ने तेरह बच्चे एक साथ जने
अखबार में खबर थी
युवराज ने कंगालों में कम्बल बाँटे ।
x x x x
एक खबर जो कहीं नहीं थी
किश्तगौड़ा को फाँसी हो गयी
एक खबर जो खबर नहीं थी
भूमैया को फाँसी हो गयी ।[1]

5- भाषायी आन्दोलन : चन्द चालाक लोगों की चाल -

हिन्दी भाषी क्षेत्र में शुरू हुए अँग्रेजी हटाओ आन्दोलन एवं तमिलनाडु में भड़के हिन्दी विरोधी आन्दोलन को कवियों ने सत्ता की चाल के रूप में देखा है । इस आन्दोलन के मूल में आम जनता की स्वस्फूर्त चेतना नहीं, बल्कि नेताओं का राजनीतिक स्वार्थ कार्य कर रहा था । ब्रिटिश सत्ता ने जिस प्रकार भाषायी विवाद को खड़ा करके देश की जनता को विभक्त किये रखा, उसी प्रकार का प्रयास स्वतन्त्रता के बाद स्वदेशी शासन ने भी किया । राज्य का पुनर्गठन भाषायी आधार पर करके देश की जनता को भाषायी हितों तक सीमित कर दिया गया । राजनीतिक पार्टियों ने भाषायी उन्माद को बढ़ाकर लोगों को अपने हित में प्रयुक्त करना शुरू किया । धूमिल ने अपनी कविता - "भाषा की एक रात " में भाषायी आन्दोलन के मूल में निहित राजनीतिक षड्यन्त्र का खुलासा किया है । उनका मानना है कि सत्ता के चालाक लोग भाषा के निरर्थक उन्माद में लोगों को उलझा कर भूख एवं शोषण के मुद्दे पर उन्हें अपने विरुद्ध एक होने से अलग कर देते हैं :

1- अपनी केवल धार - पृ0 17, अरुण कमल ।

"चन्द चालाक लोगों ने
जिनकी नरभक्षी जीभ ने पसीने का स्वाद चख लिया है
बहस के लिए
भूख की जगह
भाषा को रख दिया है
उन्हें मालूम है कि भूख से
भागा हुआ आदमी
भाषा की ओर जायेगा
उन्होंने समझ लिया है कि
एक भुक्खड़ जब गुस्सा करेगा
अपनी ही अँगुलियाँ
चबायेगा।"[1]

अपनी इसी कविता में धूमिल ने भाषायी उन्माद फैलाने वाली राजनीति के विरुद्ध अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए लोगों को उससे सावधान रहने का अभिमत दिया है :

"ओ भाषावार हमलों से हलकान मेरे भाई !
क्या तुम्हे अब भी
उसी का भरोसा है
जिसके अधिकार में
हमारी लिट्टी
चावल है
इडली है
दोसा है ?

1- संसद से सड़क तक - भाषा की एक रात , धूमिल ।

हाय ! जो असली कसाई है
उसकी निगाह में
तुम्हारा यह तमिलदु:ख
मेरी इस भोजपुरी - पीड़ा का
भाई है
भाषा उस तिकड़मी दरिन्दे का कौर है
जो सड़क पर और है
संसद में और है ।"[1]

व्यवस्था तन्त्र : साठोत्तरी हिन्दी कविता की दृष्टि में -

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जो व्यवस्थातन्त्र देश में स्थापित किया गया, वह जनता के मध्य अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर सका । जनता को राहत देने के स्थान पर उसने उसे आहत किया । व्यवस्था के "दरख्त के साये में धूप लगने"[2] से जनता इतनी व्याकुल हो गयी, कि उसे छोड़ कर "कहीं उम्र भर के लिए चले जाने"[3] जैसे विकल्प पर भी सोचना उसकी विवशता हो गयी । इस पीड़क व्यवस्था पर आक्रमण, एवं उसके यथार्थ रूप का खुलासा करते हुए साठोत्तरी कविता ने बौखलाहटपूर्ण भाषा में उसके प्रति अपना विद्रोह व्यक्त किया है । व्यवस्थातन्त्र का कोई ऐसा पुर्जा नहीं है, जिस पर इस कविता ने प्रश्न चिन्ह न लगाया हो और जो इसकी आक्रामकता एवं विद्रोह का शिकार न हुआ हो । आजादी के बाद देश ने आजादी संसद, संविधान, प्रजातन्त्र, समाजवाद आदि के जिस छद्म रूप का साक्षात्कार किया

1- संसद से सड़क तक - भाषा की एक रात - धूमिल
2- साये में धूप - पृ0 13, दुष्यन्त कुमार
3- - वही -

है, उसकी सच्चाई को साठोत्तरी कविता में पूरी ईमानदारी एवं साहस से व्यक्त किया गया है :

1- आजादी : गुलामी का स्वदेशी संस्करण :-

साठोत्तरी कविता आजादी के 13 वर्ष के बाद की कविता है । उसकी पृष्ठभूमि में जहाँ आजाद भारत के डेढ़ दशक का भयावह इतिहास है, वहीं उसके परिवेश में आजादी का क्रूर वर्तमान भी है, जिसमें उसने अपनी आँखें खोली हैं और अपनी जीवन यात्रा को जारी रखा है । आशा एवं विश्वास को धैर्य के साथ अपने हृदय में सम्भाले हुए जनता ने एक लम्बे समयान्तर के बाद यदि आजादी के विषय में कुछ जाना, तो बस इतना जाना कि वह शब्द, संविधान एवं कुछ खानदान तक सीमित है । सामान्य जनता के लिए उसके द्वार बन्द हैं । "आजादी" शब्द जनता को लुभाने का साधन एवं गुलामी का स्वदेशी संस्करण है । परतन्त्रता का कुहासा स्वतन्त्रता के आकाश तले विद्यमान है । देश "आजादी एवं गांधी के नाम पर चल रहा है / जिससे न भूख मिट रही है न मौसम / बदल रहा है ।"[1]

शोषण, अन्याय, अत्याचार, घूसखोरी, हत्या, भ्रष्टाचार एवं अराजकता के ग्राफ की निरन्तर बढ़ती ऊँचाई ने आजादी का जो यथार्थ प्रस्तुत किया, उससे कवियों का मन क्षुब्ध हो गया, उसके प्रति उनकी आस्था भंग हो गयी । आजादी की आड़ में फैले हुए व्यापक अनाचार के पीछे उन्हें एक अदद उस शासक वर्ग का हाथ नजर आया, जिसने देश के शीर्ष पदों पर बैठकर आजादी का सदैव अपने हित में प्रयोग किया और जनता के लिए उसे तथाकथित बना दिया । सव्यसाची ने अपनी निम्न

1- संसद से सड़क तक - पृ0 16, ﴾ अकालदर्शन ﴿ धूमिल ।

कविता में आजादी के नरक का खुलासा किया है, जिसमें देश की जनता जीवित रहने के लिए विवश है। अपने विद्रोही स्वर में उन्होंने शासक वर्ग से आजादी की उपलब्धियों पर प्रश्न करके उत्तर के रूप में जो सच्चाई प्रस्तुत की है, वह भारत की विकृत आजादी एवं विकृतियों के लिए जिम्मेदार तत्त्वों के मुख पर तमाचा है। आजादी की ये उपलब्धियां गुलामी के जुल्म से भी क्रूर हैं। वे शासक वर्ग पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि तिरंगा फहराना एवं बन्देमातरम् दुहराना देश-भक्ति नहीं है। देश को शोषण विहीन एवं भ्रष्टाचार मुक्त बनाने में ही देश-भक्ति निहित है :

"आखिर क्या दिया है तुमने
आजादी के नाम पर
लूप और लाटरी
जनता को बूट से कुचलती पुलिस और भ्रष्ट अफसर
भूख आगजनी
रिश्वत हत्या लूट, गिरहकटी
काले कानून, झूठी अदालतें, बहुरूपिया शासन अभाव विवशता
और गुलामी
तुमने हर आदमी को जानवर एवं हर औरत को वेश्या बना दिया है
देश भक्ति का मतलब सिर्फ तिरंगा फहराना और
वन्देमातरम् दुहराना ही तो नहीं होता ?"[1]

राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्तर पर देश में व्याप्त भ्रष्टाचार के वातावरण में आजादी, प्रेम, देशभक्ति एवं आदमीयत की बयानबाजी से लोगों को नफरत हो गयी है। उन्हें नफरत में ही सच्चाई दिखाई पड़ती है, अन्य चीजें झूठी प्रतीत होती

1- सुबह होने से पहले - पृ0 84, सव्यसाची

है । यही नफरत धूमिल की कविता में विद्रोह बन कर फूटी है :

"धुएं से ढके हुए
आसमान के नीचे
लगता है हर चीज झूठ है
आदमी
देश
आजादी और प्यार
सिर्फ नफरत सही है ।"[1]

धूमिल को भारत की आजादी एक दरिद्र परिवार की बीस वर्षीया क्वांरी बिटिया प्रतीत होती है, क्योंकि एक लम्बे समय के गुजर जाने के बाद भी वह अभाव से ग्रस्त एवं सौभाग्य से रहित है । उसकी अभावग्रस्तता एवं क्वांरेपन (दुर्भाग्य) के लिए देश के शासक जिम्मेदार हैं, क्योंकि उन्होंने हिजड़ों की तरह ताली पीटने एवं निरर्थक वार्तालाप के सहारे जनता को लुभाने के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं किया है । उन्होंने ही आजादी को ऐसे मोड़ पर लाकर खड़ा किया है, जिसके एक ओर अंधकार - पूर्ण अतीत है और दूसरी ओर आधारहीन भविष्य । धूमिल के मन में ऐसी आजादी के कारण अपार क्षोभ है और आजादी को इस दुर्गति तक पहुंचाने वालों के प्रति तीखा विद्रोह है । इसीलिए वे बड़ी जुझारू भाषा में कहते हैं :

"वर्तमान की बजबजाती हुई सतह पर
हिजड़ों की एक पूरी पीढ़ी लूप एवं अंधकूप के मसले पर
बहस कर रही है ।
आजादी इस दरिद्र परिवार की बीस साला बिटिया
मासिक धर्म में डूबे हुए क्वांरेपन की आग से
अंधे अतीत एवं लंगड़े भविष्य की चिलम भर रही है ।"[2]

1- संसद से सड़क तक - पृ0 95 , धूमिल ।
2- - वही - पृ0 34

'बीस साल व्यतीत हो जाने के बाद' भी धूमिल को आजादी का अर्थ समझ में नहीं आता है । आजादी का प्रतीक तिरंगा अपने तीन रंगों में शौर्य शान्ति एवं समृद्धि का अर्थ समेटे हुए तथा चक्र में गतिशीलता का भाव लपेटे हुए भले ही लहरा रहा है, लेकिन जनता के जीवन में इन सबका नितान्त अभाव है, वह आतंक से प्रकम्पित है । उसके चारों ओर अन्याय, अत्याचार एवं जंगल राज्य कायम है। वह चुपचाप सारे अत्याचारों को जानवरों की तरह सह रही है । धूमिल अपने आप से पूछते हैं, कि क्या आजादी इसी तिरंगे का नाम है ? धूमिल अपने इस प्रश्न के माध्यम से उत्तर भी दे देते हैं कि तिरंगा (राष्ट्रध्वज) आजादी नहीं है । सब को अपना अधिकार प्राप्त हो यही आजादी है, लेकिन जनता को इससे वंचित रखा गया है और समय - समय पर तिरंगा फहरा कर उसमें आजाद होने का भ्रम पैदा किया जाता रहा है :

"बीस साल बाद
मेरे चेहरे में
वे आँखें वापस लौट आयी है
जिनसे मैंने पहली बार जंगल देखा है
x x x x
बीस साल बाद
मैं अपने आपसे एक सवाल करता हूँ
जानवर बनने के लिए कितने सब्र की जरूरत होती है ?
बीस साल बाद
- - - - - - - - - - - -
अपने आप से सवाल करता हूँ
क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
जिन्हें एक पहिया ढोता है
या इसका कोई खास मतलब होता है ?"[1]

1- - वही - बीससालबाद

धूमिल ने अपनी 'पटकथा' कविता में देश की तथाकथित आजादी पर प्रहार किया है । वे कहते हैं, कि देश में हर जगह टूटन, वीरानी, अंधकार एवं मलवा विद्यमान है । ऐसे भयावह वातावरण में आजादी का अर्थ कहाँ ढूँढा जाय, उसकी सार्थकता का अनुभव कैसे किया जाय ? -

"मैं सोचता रहा
और घूमता रहा
टूटे हुए पुलों के नीचे
वीरान सड़कों पर
आँखों के
अन्धे रेगिस्तान में
फटे हुए पालों की
अधूरी जलयात्राओं में
टूटी हुई चीजों के ढेर में
मैं खोयी हुई आजादी का अर्थ
ढूँढ़ता रहा ।"[1]

राजकमल चौधरी का स्वतन्त्रता का प्रतीक तिरंगा तीन रंगों का एक चिथड़ा प्रतीत होता है । उनकी इस समझ में सच्चाई है । यदि चौबीस वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद भी आजादी मात्र शब्दों में ही सीमित रह जाय, उसका व्यवहारत: अनुभव न हो, तो उसके प्रति आस्था मर जायेगी और उसके सारे प्रतीक चिथड़े के रूप में ही प्रतीत होंगे । तिरंगे को चिथड़ा कह कर राजकमल चौधरी ने इस आजादी को निरर्थक घोषित कर दिया है :

1- संसद से सड़क तक - पृ0106- धूमिल

"तीन रंगों का एक चिथड़ा
अपने ही रक्त से रंगे गये
आकाश में फहराने के लिए
चौबीस वर्ष पहले जो बीत गया है
उसे दुहराया क्यों जाये ।"[1]

2- संसद : हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा कब्रगाह

संसद देश की सर्वोच्च संस्था है, वह देश की धड़कन है और देश की उन्नति एवं खुशहाली का सारा दारोमदार उसी पर है, क्योंकि नीति एवं विधान वहीं बनते हैं । वे उन सांसदों द्वारा बनाये जाते हैं, जो जनता के प्रतिनिधि होते हैं, जिन्हें जनता चुनकर भेजती है और जिनसे उसे अपने कल्याण की उम्मीद भी रहती है । लेकिन सच्चाई तो यह है,कि स्वतन्त्रता के बाद यदि देश को किसी से धोखा हुआ है, तो अपनी संसद एवं सांसद से । सांसद सैद्धान्तिक रूप से ही जनता के प्रति - निधि हैं, व्यवहारतः वे स्वार्थ के प्रतिनिधि हैं । उनकी घोर स्वार्थपरता के कारण संसद की लोकोपकारिता विवादास्पद हो गयी है । संसद में अब तक अधिकांश संख्या सामन्ती एवं पूँजीवादी प्रवृत्ति के लोगों की ही रही है । कुछ लोग, जो जनसामान्य से निकल कर संसद में पहुँचे उनमें से भी अधिकांश वहाँ पहुँच कर अपने जमीनी रिश्ते को भूल गये । इस प्रकार जनसामान्य की पीड़ा को भोगने के स्तर पर समझने वाले लोगों की संख्या संसद में नाम मात्र की रही है । सब मिला कर संसद पर शक्तिशाली एवं सम्पत्तिशाली लोगों का ही वर्चस्व रहा है । उनका जनता से सम्बन्ध मात्र वोट तक है । जनता उन्हें चुनती नहीं,बल्कि वे अपने को चुनवा लेते हैं । संसदीय प्रणाली का

1- मुक्ति प्रसंग - पृ० 16 - राजकमल चौधरी ।

प्रयोग उन्होंने अपनी स्थिति को सबलतम बनाने में किया है । जनता के समक्ष वे समय-समय पर ऐसे चारे फेंकते रहे, जिसमें उलझ कर वह आपस में लड़ती रही और उनके अपने निजी हितों की पूर्ति में कोई बाधा नहीं पहुँची । साठोत्तर कवियों ने बदचलन एवं बदनियत संसद की कलई खोलकर अपनी कविता में भारतीय राजनीति के प्रति तीखा विद्रोह दर्ज किया है ।

निर्भय मल्लिक के मन में भारतीय राजनीति एवं शासन व्यवस्था के प्रति बड़ा तीखा विद्रोह है । क्रोध एवं आक्रोश की अतिशयता के कारण उनका यह विद्रोह कहीं-कहीं अश्लील भाषा के माध्यम से भी व्यक्त हुआ है । उन्होंने संसद को भारत की सबसे बड़ी कब्रगाह कहा है,क्यों कि जनता की सारी सुख - सुविधायें सांसदों द्वारा वहीं दफन कर दी जाती हैं और वह उनसे वंचित रह जाती है । निर्भय मल्लिक मृत्यु के बाद अपनी लाश को किसी रजस्वला स्त्री के कपड़े में लपेट कर तथा मूत्र एवं वीर्य से अभिषिक्त कर पार्लियामेन्ट में फेंक देने की बात करते हैं । संसद में बम एवं पत्थर फेंकने की बात तो बहुतों ने की है लेकिन वहाँ लाश फेंक कर उसके विरूद्ध विद्रोह करने की यह सोच नितान्त नयी है :

> "सुनो दोस्तों
> मेरे मरने के बाद
> मेरी लाश पर वीर्यपात कर मूत देना
> और किसी रजस्वला स्त्री के कपड़े में लपेट कर फेंक देना पार्लियामेंट
> सचमुच इतना बड़ा कब्रगाह और कहाँ मिलेगा समूचे हिन्दुस्तान में"[1]

1- निर्भय मल्लिक - [illegible]वानी पीढ़ी ।

धूमिल ने अपनी "संसद से सड़क तक" की यात्रा के दौरान विभिन्न मुकामों पर 'संसद' के विरूद्ध विद्रोही व्याख्यान दिये हैं। उनकी यह यात्रा भारतीय राजनीति की विसंगतियों के प्रति जंग का ऐलान है। उन्होंने अपने इस काव्य संग्रह की कविता पटकथा में संसद के उपर अचूक हमला किया है :

"मुझसे कहा गया कि संसद
देश की धड़कन को
प्रतिबिम्बित करने वाला दर्पण है
जनता को
जनता के विचारों का
नैतिक समर्पण है
लेकिन क्या यह सच है ?
या यह सच है कि
अपने यहाँ संसद
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल है
और आधा पानी है
और यदि यह सच नहीं है
तो वहाँ एक ईमानदार आदमी को
अपनी ईमानदारी का
मलाल क्यों है ?"[1]

यहाँ धूमिल ने संसद को 'आधा तेल' एवं 'आधा पानी' से युक्त तेली की घानी बताकर उसकी अविश्वसनीयता एवं भ्रष्टता को स्पष्ट किया है। वहाँ ईमानदार आदमी कीईमानदारी उसके लिए परेशानी बनी हुई है। संसद का चरित्र जनवादी नहीं, बल्कि

1- संसद से सड़क तक - पृ0127 - धूमिल ।

जनविरोधी है । "रोटी और संसद " कविता में धूमिल ने भारतीय संसद से एक प्रश्न किया है । उनका यह प्रश्न संसद को निरूत्तर एवं बेनकाब कर देता है । यह छोटी-सी कविता देश में व्याप्त शोषण में संसद की भूमिका खुलासा करती है :

"एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है ।
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूं
यह तीसरा आदमी कौन है ?
मेरे देश की संसद मौन है ।"[1]

रोटी बेलने या रोटी पैदा करने वाली देश की जनता हैं और रोटी खाने वाले शोषक — पूंजीपति और नौकरशाह हैं । इन दोनों वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी है, जो रोटी से खेलता है — वह वर्ग है राजनेताओं का, जो संसद की आड़ में ऐसा करता है । शोषकों के ऊपर उसका वरदहस्त रहता है । रोटी के साथ खेल वे इन्हीं के माध्यम से करता है । लेकिन रोटी से खेलने वालों के बारे में पूछे जाने पर संसद चुप रहती है, कोई उत्तर नहीं देती, क्योंकि ये सारे खिलाड़ी या तमाशायी उसी के सदस्य हैं । जब सब-के-सब उसी खेल में लिप्त हैं, तो उत्तर कौन दे ? धूमिल की यह कविता स्पष्ट कर देती है, कि देश की बदहाली के मूल में संसद और सांसद हैं ।

1- कल सुनना मुझे - रोटी और संसद - धूमिल ।

रमेश गौड़ की कविता "कहीं कुछ नहीं होता" में संसद पर जो आघात किया गया है,वह कम तीखा नहीं है । उन्होंने इस कविता में सदन को पशुओं का 'बाड़ा' बता कर जहाँ एक ओर उसकी निकृष्टता एवं अराजकता की ओर संकेत किया है, वहीं दूसरी ओर सांसदों को 'अवारा सांड़' कहकर उनके आततायी रूप को भी स्पष्ट किया है । जैसे अवारा सांड बाड़े के अन्दर उन्माद में किसी भी वस्तु को चबाता या नष्ट करता रहता है,ठीक उसी प्रकार सदन के अन्दर सांसद भी देश की अस्मिता, संविधान, राष्ट्र ध्वज की धज्जियाँ उड़ाते रहते हैं । अपनी इसी कविता में उन्होंने "सदन में विभीषणों के राजतिलक" होने की बात कहकर मन्त्रियों की राष्ट्रभक्ति पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया है :

"भेड़ों का जुलूस पूरे जोर से गाता है
राष्ट्रीय गान सदन में विभीषणों का राजतिलक हो रहा है
और
सदन के बाड़े में अवारा सांड़ चबा रहे हैं
देश का नक्शा और संविधान और राष्ट्रध्वज ।"[1]

कैलाश वाजपेयी ने संसद को लकड़बग्घों का निवास बताकर यह स्पष्ट किया है कि भारतीय संसद 'आदमखोर संस्कृति' की पोषक है, उससे जनकल्याण की सम्भावना नहीं है :

"कुछ लकड़बग्घे संसद से निकल कर
पहुँच गये हैं घर रखैल के
और इधर कोई सुकरात रोज
अंधा हो जाता है
सीकचें गिनते हुए जेल के ।"[2]

1- निषेध - पृ0 186 - रमेश गौड़
2- देहान्त से हटकर - पृ0 52 - कैलाश वाजपेयी ।

उदय प्रकाश ने अपनी कविता 'महापुरुष' में संसद एवं पूँजीपतियों के रिश्तों की घनिष्टता की ओर संकेत किया है । संसद एवं पूँजीपतियों के मध्य नेतागण सेतु के समान हैं । उन्हीं के माध्यम से उनकी वहाँ तक पहुँच बन पाती है, जिससे वे नीतियों को बहुत कुछ अपने हित में निर्धारित करवा लेते हैं । पूँजीपतियों की तिजोरी की दौलत के सहारे सदन की आसन्दी तक पहुँचने वाले नेतागण अपनी नमक हलाली का परिचय देते हुए उनके लिए ऐसे काम करते हैं, जो देश की बहुसंख्यक जनता के हित के विपरीत होते हैं । इस प्रजातान्त्रिक संसद की प्रवृत्ति पूर्णत: पूँजीवादी है :

"महापुरुष की धोती का
एक छोर
नगर सेठ की तिजोरी में है
दूसरा संसद की कुर्सी में ।"[1]

3- प्रजातन्त्र : आदमी के खिलाफ आदमी का खुला षड्यन्त्र -

स्वतन्त्रता के बाद भारत में प्रजातान्त्रिक शासन की स्थापना की गयी । सैद्धान्तिक रूप से यह जनता का जनता के द्वारा जनता के लिए शासन है । जनता की सम्प्रभुता पर आधारित इस शासन प्रणाली में मूलाधिकार, समता, स्वतन्त्रता, वयस्क मताधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता आदि ऐसे प्रावधान हैं, जिससे जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिल सके, उसका किसी भी स्तर पर शोषण न किया जा सके; शासन उसके सेवक के रूप में कार्य करे और सत्ता पर जनता का अधिकार रहे । भारत में जनतन्त्र या लोकतन्त्र का जो व्यावहारिक स्वरूप सामने आया, वह उसके सैद्धान्तिक रूप से एकदम विपरीत है । भारतीय जनतन्त्रमें

1- सुनो कारीगर - पृ0 71, उदय प्रकाश ।

जनता ही तिरस्कृत है। लोक प्रतिनिधि एवं लोक सेवक ही शोषक की भूमिका निभा रहे हैं। धन एवं बल का ही बोल बाला है। सत्ता पर सम्पत्ति एवं शक्ति का ही नियन्त्रण है। सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय से जनता वंचित है। उत्पादन के साधन एवं शासन पर कुछ लोगों का ही कब्जा है। जनता जनतन्त्र के हाशिये पर है। साठोत्तर कवियों ने भारतीय जनतन्त्र के इस विकृत एवं दयनीय रूप का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए उसकी विकृति एवं दयनीयता के लिए उत्तरदायी तत्वों पर तीखा प्रहार किया है और उनके विरुद्ध लोगों के मन में अपनी कविता के माध्यम से विद्रोह की चेतना जागृत की है।

साठोत्तर कवियों में, भारतीय प्रजातन्त्र के व्यावहारिक स्वरूप की विसंगतियों पर सबसे तीखा प्रहार धूमिल ने किया है। परिमाण की दृष्टि से भी उनकी इस तरह की कविताओं की संख्या अधिक है। अपनी "शहर में सूर्यास्त" कविता में धूमिल ने लिखा है कि भारत में प्रजातन्त्र भेड़िया नेताओं की जुबान पर जिन्दा है। भेड़िया की जुबान पर किसी जिन्दगी का अस्तित्व कितने समय तक रहता है, यह सर्वविदित है। नेतागण एवं उनके मातहत नौकरशाह खुलेआम प्रजा - तान्त्रिक मूल्यों की अवहेलना करते हैं। यहाँ प्रजातन्त्र एक आकर्षक नारा है, आवश्य - कता पड़ने पर, जिसे जनता के मध्य उछाल कर उसे इस भ्रम में डाला जाता है कि देश में सब कुछ उसी का है, उसी के लिए है :

"उन्होंने जनता और जराय पेशा
औरतों के बीच की
सरल रेखा को काटकर
स्वास्तिक चिन्ह बना लिया है
और हवा में एक चमकदार गोलशब्द
फेंक दिया है - जनतन्त्र

जिसकी रोज सैकड़ों बार हत्या होती है
और हर बार
वह भेड़ियों की जुबान पर जिन्दा है ।"[1]

धूमिल ने 'प्रजातन्त्र' को एक षड्यन्त्र कहा है । यह षड्यन्त्र बड़ा दुःखद है, क्योंकि यह देश के कुछ लोगों (नेताओं) द्वारा देश की उस जनता के विरुद्ध रचा गया है, जिसने उन्हें अपना समझा है और उन पर विश्वास किया है । सच्चाई तो यह है कि इस देश के प्रजातन्त्र में प्रजा के तन्त्र जैसी कोई स्थिति है ही नहीं । यदि किसी राष्ट्र के लिए किसी शासनतन्त्र की आवश्यकता होती ही हो और भारत में प्रचलित शासनतन्त्र को भी कोई नाम देना आवश्यक ही हो, तो यहाँ की स्थिति को देखकर कहा जा सकता है कि यहाँ 'वनतन्त्र' है; जिसमें कोई न्याय नहीं है, शक्ति ही न्याय का पर्याय है । धूमिल ने अपनी निम्न कविता में भारतीय प्रजातन्त्र की इन्हीं विसंगतियों पर प्रहार करते हुए कहा है कि इस देश में कर्फ्यूग्रस्त क्षेत्र में गश्त करती हुई सैनिक टुकड़ियों के जूतों से 'जनतन्त्र - जनतन्त्र' निकल रहा है । उनके इस व्यंग्यात्मक कथन का तात्पर्य यह है, कि इस प्रजातन्त्र में जनता शक्ति की दहशत के बीच जी रही है :

"न कोई प्रजा है
न कोई तन्त्र है
यह आदमी के खिलाफ
आदमी का खुलासा
षड्यन्त्र है ।

1- संसद से सड़क तक - शहर में सूर्यास्त - धूमिल ।

और कर्फ्यू में शान्त ठण्डी सड़क पर
सैनिक दस्तों के जूतों से
कितनी सफेद और मार्मिक ध्वनि
निकल रही है
जनतन्त्र - जनतन्त्र - जनतन्त्र ।"[1]

'जनतन्त्र के सूर्योदय में' कविता में धूमिल ने भारतीय जनतन्त्र को जलता हुआ बताया है । इस जनतन्त्र का सूर्योदय यानी शुरुआत ही चालबाजियों से भरा हुआ है । यह चालबाजी चमकते हुए रंगों यानी दिखावटी आदर्शों के रूप में है । प्रजा - तन्त्र का यथार्थ बड़ा वीभत्स एवं भयावह है :

"रक्तपात
कहीं नहीं होगा
सिर्फ एक पत्ती टूटेगी
एक कन्धा झुक जायेगा
फड़कती भुजाओं और
सिसकती हुई आँखों को
एक साथ लाल फीते में लपेट कर
वे रख देंगे
काले दराजों के निश्चल एकान्त में
जहाँ रात में
संविधान की धारायें
नाराज आदमी की परछायी को
देश के नक्शे में
बदल देती है
x x x

1- सुदामा पाण्डेय का प्रजातन्त्र - पृ0 36, धूमिल ।

सिरकटे मुर्गे की तरह फड़कते हुए
जनतन्त्र में
सुबह
सिर्फ चमकते हुए रंगों की वानबाजी है
अखबारों की धूप और
वनस्पतियों के हरे मुहावरे
तुम्हें तसल्ली देंगे
और जलते हुए जनतन्त्र के सूर्योदय में
सरीक होने के लिए
तुम चुपचाप अपनी दिनचर्या का
पिछला दरवाजा खोल कर
बाहर आ-जाओ गे ।"[1]

अपनी 'पटकथा' कविता में धूमिल ने प्रजातन्त्र पर जबरदस्त चोट की है । उन्होंने लिखा है कि इस जनतन्त्र में घोड़ा और घास यानी शोषक एवं शोषित को शोषण करने एवं शोषित होने की छूट है । यह स्थिति जनतन्त्र की अवधारणा के विपरीत है । देश में प्रजातन्त्र तमाशा बन गया है । मदारियों की तरह शासक वर्ग अपनी आकर्षक एवं लुभावनी भाषा के माध्यम से जनता को इस तमाशे में उलझाये रखता है :

"- - - - - - - - -यहाँ
ऐसा जनतन्त्र है जिसमें
जिन्दा रहने के लिए
घोड़े और घास को
एक जैसी छूट है

1- संसद से सड़क तक - जनतन्त्र के सूर्योदय में - धूमिल ।

कैसी विडम्बना है
कैसा झूठ है
दर असल अपने यहाँ जनतन्त्र
एक ऐसा तमाशा है
जिसकी जान
मदारी की भाषा है ।"[1]

अपनी इसी कविता में धूमिल ने आगे लिखा है, कि यह देश जनतान्त्रिक जंगल है, जहाँ अपराधों की छूट है । इस जंगल की हरियाली अपराधों पर ही आधारित है । इस तन्त्र में अपराध एवं अन्याय बेरोकटोक घटित होते रहते हैं, जिसका शिकार प्रजा यानी आम जनता होती रही है :

"गरज यह कि अपराध
अपने यहाँ एक ऐसा सदाबहार फूल है
जो आत्मीयता की खाद पर
लाल भड़क फूलता है
मैंने देखा कि इस जनतान्त्रिक जंगल में
हर तरफ हत्याओं के नीचे से निकलते हैं
हरे-हरे हाथ, और पेड़ों पर
पत्तों की जुबान बनकर लटक जाते हैं
वे ऐसी भाषा बोलते हैं जिसे सुनकर
नागरिकता की गोधूलि में
घर लौटते हुए मुसाफिर
अपना रास्ता भटक जाते हैं ।"[2]

1- संसद से सड़क तक - पृ0105 - धूमिल

2- - वही - पृ0 109

अपने काव्य संग्रह 'कल सुनना मुझे' की कविता 'प्रजातन्त्र के विरुद्ध' में धूमिल ने प्रजातन्त्र के विरुद्ध अपने विद्रोह का एकदम खुलासा कर दिया है । उन्होंने इस कविता में अपना हाथ प्रजातन्त्र के ऊपर उठा दिया है, क्योंकि इस तन्त्र में भूख और शोषण का कोई समाधान नहीं है । जनता को तमाम विसंगतियों से निरन्तर जूझते रहना पड़ा है और अब सारी स्थितियाँ बर्दाश्त के बाहर हैं :

पेट और प्रजातन्त्र के बीच का सम्बन्ध
उसके पाठ्यक्रम में नहीं है
x x x
पेट से लड़ते - लड़ते जिसका हाथ
अपने प्रजातन्त्र पर उठ गया है ।[1]

राजकमल चौधरी ने अपनी लम्बी कविता 'मुक्ति प्रसंग' में लोगों को लोकतन्त्र से अलग हो जाने, उसे छोड़ देने की बात कही है, क्योंकि यह प्रजातन्त्र बड़ा घातक है । यह जनता पर सीधा प्रहार करके उसे विनष्ट नहीं करता बल्कि प्रेमपूर्ण छल के माध्यम से लोगों की कमर को तोड़ देता है, उन्हें नपुंसक, निष्क्रिय एवं पौरुषहीन बना देता है :

"आदमी को तोड़ती नहीं है लोकतान्त्रिक पद्धतियाँ केवल पेट के बल / उसे झुका देती हैं धीरे-धीरे अपाहिज धीरे-धीरे नपुंसक बना लेने के लिए उसे शिष्ट राजभक्त देश प्रेमी नागरिक बना लेती हैं /आदमी को इस लोकतन्त्रीय संसार से अलग हो जाना चाहिए ।[2]

1- 'कल सुनना मुझे' - प्रजातन्त्र के विरुद्ध - धूमिल

2- मुक्ति प्रसंग - पृ0 32 - राजकमल चौधरी

केदारनाथ अग्रवाल ने प्रजातन्त्र को भाषण तन्त्र की संज्ञा दे डाली है। कारण, इस तन्त्र में हर कार्य भाषण तक ही सीमित रहता है, वह मूर्त रूप कभी नहीं धारण करता। मैं करूँगा और हम करेंगे, जैसे भविष्य कालीन वाक्यों के प्रयोक्ता नेताओं के पास यदि कुछ है तो भाषण है, और वही उनके पास हर समस्या के समाधान का महामन्त्र है, जिससे उनकी अपनी समस्या का समाधान तो हो जाता है, लेकिन जनता की समस्यायें बरकरार ही रहती हैं :

"देश में लगी आग को
लफ्फाजी नेता
शब्दों से बुझाते हैं
वाग्धारा से
ऊसर को उर्वर
और देश को
आत्म निर्भर बनाते हैं
लोकतन्त्र का शासन
भाषणतन्त्र से
चलाते हैं।"[1]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को यह तन्त्र ढोंग, विश्वासघात एवं बदबू से युक्त दिखाई देता है। उनकी दृष्टि में इसका महत्व पैर काट देने वाले जूते से अधिक नहीं है, जिसे कोई लाठी में टाँग कर अनुपयुक्त होते हुए भी जूता पास रहने के गर्व से आगे बढ़ा जा रहा है :

1- मार प्यार की थापें - केदार नाथ अग्रवाल ।

झाँकियाँ निकलती हैं ढोंग की विश्वासघात की
बदबू आती है हर बार एक मरी बात की ।
लोकतन्त्र को जूते की तरह लाठी में लटकाये
भागे जा रहे हैं सभी सीना फुलाये ।[1]

प्रजातन्त्र, जिसे जनता का शासन माना जाता है, व्यवहारतः वह उसके लिए बेरौनक हो गया है, क्योंकि उसमें हर ओर भ्रष्टाचार, अन्याय एवं दुर्गन्ध व्याप्त है । घोर विसंगतियों के चलते यह तन्त्र एकदम घृणास्पद हो गया है । मंगलेश डबराल अश्लील शब्दों में इस तन्त्र के विरुद्ध विद्रोह व्यक्त करते हुए कहते हैं, कि इस प्रजातन्त्र में जीना वेश्या की सार्वजनिक योनि में सम्भोग करना है :

इक्कीसवीं शताब्दी के
इस बेरौनक गोबर प्रजातन्त्र में जब जीना है तो
वेश्या की सार्वजनिक योनि से संभव करना है
न्याय की सड़ी हुई गलियों में
वह सम्भोग ।[2]

चन्द्रकान्त देवताले के 'प्रजातन्त्र के बुखार में' शीर्षक कविता में प्रजातन्त्र के विरुद्ध विद्रोह का उबाल दिखाई पड़ता है । इस कविता में उन्होंने प्रजातन्त्र के रक्षक नेताओं के भाषणों एवं घोषणापत्रों पर जोरदार व्यंग्य किया है :

बुखार बढ़ता जा रहा है
डाक्टर कहाँ है - - - - - संसद के सामने - - - सिर्फ सैकड़ों
मुह भाषण उगल रहे हैं
घोषणा पत्र गधे के मुह में चलता जा रहा है ।[3]

1- गर्म हवाएं - पृ0 17 - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

2- पिछला हाल - पृ0 144

3- लकड़बग्घा हँस रहा है - पृ0 45 - 46 - चन्द्रकान्त देवताले

कुमार विकल इस वनतन्त्री व्यवस्था में अपने आप को अकेला एवं अरक्षित पाते हैं, क्योंकि यह व्यवस्था उन्हें साथ नहीं दे रही है, उन्हें न्याय नहीं दिला पा रही है। वह शोषकों, अन्यायियों एवं अपराधियों के साथ हैं। यह स्थिति उन्हीं की नहीं है, बल्कि पूरी जनता की है। सर्वत्र भय और आतंक का साम्राज्य है। प्रजातन्त्र के भय एवं आतंक से निपटने के लिए कवि को सख्त हाथों एवं खुरदुरे शब्दों की तलाश है :

राजपथ की वनतन्त्री व्यवस्था में
मैं अकेला और अरक्षित हूं
मेरे स्नायुतन्त्र पर भय और आतंक की
कटीली झाड़ियाँ उग आई हैं,
जिन्हें काटने के लिए सख्त हाथों के साथ-साथ
खुरदुरे शब्दों की जरूरत है।
इन झाड़ियों को काटने के लिए
ठीक हाथों एवं ठीक शब्दों की तलाश में
मैं होरी किसान और मोचीराम के पास जाऊंगा।[1]

कवि सख्त हाथों एवं खुरदुरे शब्दों की तलाश होरियों, एवं मोचीरामों के मध्य करना चाहता है। तात्पर्य यह है कि वह इस तन्त्र के आतंक के खिलाफ उन्हीं लोगों की शक्ति को संगठित करना चाहता है, जो आतंकित एवं शोषित हैं।

जनतन्त्र के विरुद्ध उदय प्रकाश का आक्रोश एवं विद्रोह नारेबाजी एवं बयान - बाजी के स्तर पर उतर आया है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जनतन्त्र का आधार है। इस व्यवस्था में यह जनता के मूलाधिकार के रूप में भी स्वीकृत है, लेकिन इस तन्त्र का यह आधार सबसे कमजोर है। जनता व्यवहारतः अपने इस अधिकार से

1- निषेध - पृ0 168 - 69 -

वंचित है । वह बोलना चाहती है,तो उसे बोलने नहीं दिया जाता । यदा-कदा यदि वह कुछ बोल देती है,तो उसे कोई सुनता नहीं :

राजसत्ता
अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का
कानून है
और जो इस कानून की जद में है
उसे बोलने नहीं देती राजसत्ता ।[1]

भारत में शुरू हुआ यह 'जनतन्त्र का जमान' जगूड़ी के गले नहीं उतरता, क्योंकि इसमें जनतन्त्र जैसी कोई स्थिति है ही नहीं । यह तो विशुद्ध रूप से पुलिस तन्त्र है, इसमें नौकरशाहों की तानाशाही है । यहाँ हर तरफ लूट है,जिससे प्रजा - त्रस्त है । जगूड़ी के शब्दों में -

"इस दरमियान मैंने जाना
कि जनतन्त्र में बिल्कुल नया जमाना है
और नागरिकता पर सबसे बड़ा रन्दा थाना है ।"[2]

"चोरी की वहीं पर सुविधा है
जहाँ पर कोतवाली है ।"[3]

"पराजय और आदर्श के बीच
आदर्श एक चालाकी है
लूटने के अनुशासन में
पुलिस की तरह सबकी वर्दी खाकी है ।"[4]

1- अबूतर कबूतर - पृ0 64 - उदयप्रकाश ।
2- नाटक जारी है - पृ0 48 , जगूड़ी ।
3- - वही - पृ0 93
4- - वही - पृ0 57

इस प्रकार हम देखते हैं कि साठोत्तरी कविता में जनतन्त्र के ऊपर बड़ा तीखा प्रहार किया गया है। लेकिन हमें यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि इस दौर के कवि प्रजातन्त्र विरोधी हैं। उनका प्रजातन्त्र के असली रूप से विरोध नहीं है। उनका विरोध उसके नकली स्वरूप से है, जिसकी आड़ में प्रजा का शोषण हो रहा है।

नेता : दातों एवं दलालों का दलाल -

प्रजातंत्र में राजनेताओं की भूमिका बड़ी महत्वपूर्ण होती है। उनकी सच्चरित्रता एवं कर्मठता ही प्रजातान्त्रिक व्यवस्था को सफल एवं सुचारू बना सकती है। वे जनता के प्रतिनिधि होते हैं, और यह तन्त्र उन्हीं की नीतियों एवं निर्देशों पर आधारित होता है। ऐसी स्थिति में उनकी स्वार्थपरता एवं भ्रष्टता देश के पतन एवं दुर्भाग्य का कारण बनती है। आजादी के बाद देश में राजनेताओं का जो चरित्र सामने आया, वह बड़ा चिन्ताजनक, निन्दनीय एवं घृणास्पद है और जनता उससे बहुत कुछ परिचित भी है। देश में बढ़ते भ्रष्टाचार, अपराध, अन्याय, शोषण आदि के पीछे मूलत: उन्हीं का हाथ है। छोटभइया नेताओं से लेकर शीर्षस्थ नेताओं तक प्राय: सभी दलाली एवं कमीशनखोरी में लिप्त हैं। नौकरशाहों की नाजायज कमाई के एक हिस्से के वे भी हिस्सेदार हैं। वे भ्रष्टाचार में स्वयं लिप्त हैं और भ्रष्टाचारियों के शरण स्थल भी हैं। यही कारण है कि देश में न तो कोई नीति सफल हुई और न कोई योजना ही कारगर हुई। जनता को उनका लाभ या तो मिला ही नहीं या तो नाम मात्र का मिला। साठोत्तर कवियों ने राजनेताओं के इस दोगले चरित्र को अनावृत्त किया है। गोरख पाण्डेय की 'कुर्सीनामा' कविता में नेताओं के दोमुंहेपन एवं स्वार्थपरता का बयान है :

कुर्सी खतरे में है तो प्रजातन्त्र खतरे में है
कुर्सी खतरे में है तो देश खतरे में है
कुर्सी खतरे में है तो दुनिया खतरे में है
कुर्सी न बचे
तो भाड़ में जाये प्रजातन्त्र
देश और दुनिया ।[1]

भारतीय नेता कुर्सीमोह के शिकार हैं । देश एवं देश के प्रजातन्त्र से उनका रिश्ता मात्र कुर्सी तक है । उसे प्राप्त करने के लिए वे किसी प्रकार का प्रचार - दुष्प्रचार कर सकते हैं । उनकी इसी स्वार्थपरता से भारत की राजनीति दूषित हुई है । जनता से वे अपना सम्बन्ध तभी तक कायम रखते हैं, जब तक वे कुर्सी पाने के प्रयास में रहते हैं । चुनाव जीतने से पहले वे अपनेसेपहले चुने हुए लोगों की आलोचना करते हैं और अपनी सत्यनिष्ठा का प्रचार करते हुए लोगों से अपनी आत्मीयता व्यक्त करते हैं तथा जमीन से अपना जुड़ाव सिद्ध करते हैं । लेकिन कुर्सी पाते ही वे अपनी जमीन से कट जाते हैं, जिन लोगों ने उन्हें चुनकर भेजा है, उन्हें भूल जाते हैं :

जब तक वह जमीन पर था
कुर्सी बुरी थी
जा बैठा जब कुर्सी पर वह
जमीन बुरी हो गयी ।[2]

जगूड़ी ने 'साक्षात्कार' कविता में उन नेताओं पर तीखा व्यंग्य किया है, जो देश की विपत्तियों एवं समस्याओं से विमुख होकर मात्र अपने तत्कालिक हित का ही चिन्तन करते हैं ।[3] उन्होंने "बिल्कुल निजी संवाददाता द्वारा" शीर्षक

1- जागते रहो सोने वालो - पृ0 47 , गोरख पाण्डेय
2- - वही - पृ0 48
3- नाटक जारी है - पृ0 23 , जगूड़ी

कविता में नेताओं को भेड़िया एवं उनके पिछलग्गुओं को लोमड़ी के रूप में चित्रित किया है । इन दोनों की संयुक्त शक्ति ही देश एवं समाज की समस्याओं को जन्म देने वाली है :

"आदमियों के जंगल में छिपे हुए भेड़िये
पिछले पंजों से मिट्टी खोद रहे हैं ।
और हिलती फिर रही है
लोमड़ी कुण्ठाओं की रोयेंदार पूंछें ।"[1]

'तथाकथित महान लोग' शीर्षक कविता में जगूड़ी ने मन्त्रियों नेताओं एवं सफेद-पोश अपराधियों के खिलाफ स्वर उठाया है :

"महान लोग रात को लबादे की तरह नहीं ओढ़ते
रात उनके लिए
दिन भर के कुकर्मों पर पड़ा पर्दा है ।[2]

देश की व्यवस्था के विधायक समझे जाने वाले नेताओं के चरित्र पर जगूड़ी ने अपनी निम्न कविता में बड़ा तीखा प्रहार किया है । अपनी इस कविता में उन्होंने इस सच्चाई का खुलासा किया है कि ले-देकर इस देश की दुर्गति के कारण नेता ही हैं :

"नेता इस देश का सही तर्क है/ जहाँ पर सबका बेड़ा गर्क है वह महान है/ उसके कन्धे पर देश है/ और जेब में कोई केश है/ उसकी एक ही आदत है/ कि आज भी और कल भी उनका कहीं स्वागत है/ उनके सभी काम देश के काम हैं / यानी वे देश खाते हैं /देश की टट्टी करते हैं /देश का पेशाब करते हैं/वे देश का क्या नहीं करते ? /सिक्का बदल-बदल कर देश का सही हिसाब करते हैं ।"[3]

1- नाटक जारी है - पृ0 11 , जगूड़ी
2- बची हुई पृथ्वी - पृ0 22 , जगूड़ी
3- नाटक जारी है - पृ0 97 , जगूड़ी

रघुवीर सहाय ने अपनी 'नयी हँसी' शीर्षक कविता में नेताओं पर तीखा प्रहार किया है । उनकी यह कविता नेताओं की वह तस्वीर पेश करती है, जिसमें उनकी उत्तरदायित्वहीनता, नैतिक पतन और भद्देसपन का रंग स्पष्ट दिखायी देता है :-

"महासंघ का मोटा अध्यक्ष
धरा हुआ गद्दी पर खुजलाता है उपस्थ
सर नहीं
हर सवाल का जवाब देने वे पेश्तर
- - - - - - - - - - - - - -
अखबारों के प्रतिनिधि पूछें पचीस बार
क्या हुआ समाजवाद
कहे महासंघपति
हम करेंगे विचार ।"[1]

केदारनाथ अग्रवाल ने 'नेता' कविता में नेताओं पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है । वे उनकी वन्दना करते हैं, क्योंकि देवताओं की तरह उनके पैर भी जमीन पर नहीं पड़ते हैं । समता का यह बिन्दु उन्हें देवत्व की श्रेणी में डाल देता है । उनका यह व्यंग्य नेताओं के जमीन से अलग होने की ओर संकेत करता है । उनकी इस कविता का अभिप्राय यह है, कि जो जमीन से कटा हुआ है, वह न तो नेता है और न जनता के लिए उपयोगी ही है :

"तुम्हारे पाँव
देवताओं के पाँव हैं
जो जमीन पर नहीं पड़ते
हम वन्दना करते हैं तुम्हारी
नेता ।"[2]

1- आत्म हत्या के विरुद्ध - पृ० 16, रघुवीर सहाय ।
2 कहें केदार खरी-खरी -कविता 'नेता'-केदारनाथ अग्रवाल ।

अपनी एक दूसरी 'नेता' कविता में उन्होंने नेता को नासमझ एवं निगाह का कच्चा कहा है । स्वार्थपरता एवं संवेदनहीनता के कारण उनकी समझ कुंठित एवं अपने तक सीमित रह गयी है । उनकी दृष्टि दूरगामी नहीं है । वे अपने पैर एवं कुर्सी के पाये तक ही देखते हैं । वे उस देश एवं देश के भविष्य के बारे में नहीं सोच पाते, जिस पर उनकी कुर्सी के पैर टिके हैं :

नेता निगाह का कच्चा है
नासमझ देश का बच्चा है ।[1]

अपनी 'हम समझे' शीर्षक कविता में केदारनाथ अग्रवाल भारतीय नेताओं की राजनीति के सम्बन्ध में अपनी गहरी समझ को प्रस्तुत किया है । उनकी यह समझ राजनीति की उस धूर्तता का खुलासा करती है, जिसने देश की जनता को पग-पग पर मूर्ख बनाया है और उसके वर्तमान तथा भविष्य को बर्बाद किया है :

"हमने सराहा
जब तुमने
हमे
पहले-पहल
भविष्य का नक्शा
देश के दर्पण में
खुशहाल दिखाया
और हम खुश हुए
हमने तुम्हे शिर चढ़ाया
और कविता में तुम्हे गाया

1- कहे केदार खरी-खरी - 'नेता', केदारनाथ अग्रवाल

लेकिन जब जब तुमने
अपना
चक्कर
मक्कर चलाया
हमें भरमाया
स्याह को सफेद
और सफेद को स्याह बताया
गलत को सही
और सही को गलत समझाया
तब हम समझे
तुम आदमी नहीं
उल्लू हो
न तुम भविष्य को उज्ज्वल कर सकते हो
न आज को सुन्दर
कर सकते हो ।"[1]

एक अगस्त 1976 को लिखी अपनी कविता 'तुम हम' में केदारनाथ अग्रवाल ने भारत की लगभग 27 वर्षीय गणतन्त्रात्मक व्यवस्था की उपलब्धियों को बड़े संक्षिप्त एवं स्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है । इस कालावधि में व्यवस्था के व्यवस्थापक नेता खूंखार होते गये और जनता अभावग्रस्त बीमार एवं लाचार होती गयी ।

"सत्ताइस साल में तुम
न तुम रह गये तुम
न हम रह गये हम
तुम हो गये खूंखार

1.- कहे केदार खरी खरी - पृ0 188, 'हम समझे' केदारनाथ अग्रवाल

हम हो गये बीमार
अभावग्रस्त लाचार ।"[1]

अपनी 'तुम' शीर्षक कविता में केदारनाथ अग्रवाल ने जनता को लाचार बना देने वाले शासक वर्ग पर बड़ा तीखा व्यंग्य किया है । वे कहते हैं, कि अपनी इस दुर्गति के लिए हम दोषी हैं, तुम(शासक वर्ग)दोषी नहीं हो । हमने तुम्हे देश की सत्ता सौंप कर भूल की है । तुम देश के लिए व्यर्थ हो चुके हो, लेकिन हम तुम्हें सत्ता से हटा पाने में अभी असमर्थ हैं । कवि का अपनी असमर्थता का बयान बड़ा ही साहस - पूर्ण एवं सत्ता को ललकारने वाला है :

"दोष तुम्हारा नहीं हमारा है
जो हमने तुम्हे इन्द्रासन दिया
देश का शासन दिया
तुम्हारे यश के प्रार्थी हुए हम
तुम्हारी कृपा के शरणार्थी हुए हम
और असमर्थ हैं हम
कि उतार दें तुम्हें
इन्द्रासन से देश के शासन से
अब जब तुम व्यर्थ हो चुके हो
अपना यश खो चुके हो ।"[2]

नेताओं की सारी बदचलन एवं बदनियत हरकतों का खुलासा धूमिल की कविताओं में पूरी सच्चाई एवं ईमानदारी के साथ हुआ है । उन्होंने अपनी कविताओं में भ्रष्टाचार की जड़ खोद दी है । देश का सारा व्याकरण नेताओं ने ही बिगाड़ा

1- कहे केदार खरी खरी - तुम हम
2- कहे केदार खरी खरी - 'तुम', पृ0 137, केदारनाथ अग्रवाल ।

है, फलत: सर्वत्र अव्यवस्था का ही आलम है । वे भूख, देश, धर्म, नैतिकता आदि सब का प्रयोग जनता के शोषण एवं अपने हित के पोषण के लिए करते हैं :

"उन्होंने किसी चीज को
सही जगह नहीं रहने दिया है
न संज्ञा न विशेषण
न सर्वनाम
एक समूचा और सही
वाक्य
टूट कर बिखर गया है
उनका व्याकरण इस देश की
शिराओं में छिपे हुए कारकों का
हत्यारा है
उनकी सख्त पकड़ के नीचे
भूख से मरा हुआ आदमी
इस मौसम का
सबसे दिलचस्प विज्ञापन है और गाय
सबसे सटीक नारा है
वे खेतों में भूख और शहरों में
अफवाहों के पुलिन्दे फेंकते हैं
देश और धर्म और नैतिकता की
दुहाई देकर
कुछ लोगों की सुविधा
दूसरों की हाय पर सेंकते हैं
वे जिसकी पीठ ठोंकते हैं
उसके रीढ़ की हड्डी गायब हो जाती है ।"[1]

1- संसद से सड़क तक - पृ0109 - धूमिल

नेताओं में 'न हया' है, 'न दया' है। अतः सिद्धान्तों की हत्या करने तथा शोषण एवं भ्रष्टाचार फैलाने में वे जरा-सा भी नहीं हिचकते। कुर्सी उनका साध्य है, जिसके लिये वे किसी भी साधन को अपना सकते हैं :

"मैं रोज देखता हूँ कि व्यवस्था की मशीन का
एक पुर्जा गरम होकर
अलग छिटक गया है और
ठण्डा होते ही
फिर कुर्सी से चिपक गया है
उसमें न हया है
न दया है।"[1]

नेता प्रजातान्त्रिक सामन्त हैं। वे ही आज सबसे बड़े शोषक हैं। वे दातों एवं दलालों के दलाल हैं। वे भ्रष्टों एवं भ्रष्टाचारों के जनक तथा संरक्षक हैं। इतना होने पर भी वे अराजकता के कुहासे से घिरे इस देश में अपने को देश का सबसे बड़ा रहनुमा एवं देश भक्त होने का दावा करते हैं :

"हर तरफ धुआं है
हर तरफ कुहासा है
जो दातों एवं दलालों का दलाल है
वही देश भक्त है।"[2]

पूरे नेता वर्ग के ऊपर तीखी चोट तो प्रायः सभी साठोत्तर कवियों ने किसी न किसी रूप में की है लेकिन किसी नेता विशेष पर चोट करने का साहस यदि किसी में है तो वे नागार्जुन हैं। उन्होंने अपनी 'तुम रह जाते दस साल और' कविता में

1- संसद से सड़क तक - पृ0126 - धूमिल

2- वही - पृ0 105

उन्होंने यदि जवाहर लाल पर हमला किया है, तो 'काली माई' कविता में इन्दिरा गांधी की खबर ली है । अपनी इन कविताओं में उन्होंने दोनों नेताओं की जन - विरोधी कार्यशैली को बेनकाब किया है :

"हम चावल लाते एक किलो, दस की दे आते नोट मगर
यों सिकुड़े रहते सपनों में सिलवाते ऊनी कोट मगर
गालियाँ छनकती बैलों की जोड़ी को देते वोट मगर
हम गाँजा ही बँवा करते लेते खादी की ओट मगर
खुलते खिलते कुछ गाल और
तुम रह जाते दस साल और ।"[1]

"मुण्डमाल के लिए गरीबों पर निगाह है
धनपतियों के लिए दया की खुली राह है
कितना खून पिया है, जाती नहीं खुमारी
सुर्ख और लम्बी है, मइया जीभ तुम्हारी ।"[2]

§5§ <u>समाजवाद : माल गोदाम में लटकी हुई बाल्टी :-</u> समाजवाद एक ऐसी विचारधारा है, जो समाज की वर्गहीनता पर विश्वास करती है और शोषण का विरोध करती है । इस विचार प्रणाली पर आधारित शासन व्यवस्था का उद्देश्य शोषक एवं शोषित वर्ग के मध्य विद्यमान आर्थिक विषमता की खाई को पाटकर साम्य की स्थापना करना है । भारतीय संविधान में समाजवाद शब्द का प्रयोग जरूर हुआ, लेकिन समाजवादी मूल्यों की यहाँ निरन्तर अवहेलना होती रही है, जिसके शोषण एवं विषमता का ग्राफ ऊँचा उठता गया है । साठोत्तर कवियों ने समाजवाद के इस भारतीय संस्करण पर बड़ा तीखा प्रहार किया है । धूमिल के शब्दों में यहाँ समाजवाद की स्थिति कुछ इस प्रकार है :

1- नागार्जुन की चुनी हुई रचनाएँ, भाग दो , पृ0 163 ।
2- - वही - पृ0 146

"समाजवाद
उनकी जुबान पर अपनी सुरक्षा का
एक आधुनिक मुहावरा है
– – – – – – – मेरे देश का समाजवाद
मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिस पर आग लिखा है
और उनमें बालू एवं पानी भरा है ।"[1]

धूमिल का यह बयान यहाँ के समाजवाद का पूरा पोल खोलकर रख देता है । देश के नेताओं ने समाजवाद को अपनी सुविधा एवं सुरक्षा का साधन बना लिया है । समाजवाद उनके काम तक विस्तृत नहीं, बल्कि जबान तक सीमित है । जनता को इस आकर्षक शब्द में उलझाकर अपने हित को सुलझाना उनका उद्देश्य है । यहाँ का समाजवाद एकदम नकली एवं दिखावटी है । जैसे मालगोदाम में लटकी बाल्टी पर आग लिखा रहता है, लेकिन सच्चाई यह है कि उसमें आग नहीं बालू रहती है । ठीक वैसी ही स्थिति यहाँ समाजवाद की भी है । समाजवाद के नारे में पूँजीवादी विचार एवं गतिविधियाँ सक्रिय हैं । इसी विरोधाभासपूर्ण स्थिति के चलते विषमता एवं शोषण में वृद्धि हुई है और सामान्य जनता पेट की समस्या के समाधान में भटक रही है । धूमिल ने रोटी की समस्या या पेट की भूख को भारतीय समाजवाद की देन बताया है :

"और यह पेट है
मैंने उसे सहलाया
मेरा पेट
समाजवाद की भेंट है ।"[2]

1– संसद से सड़क तक – पृ0126-27 – धूमिल
2– – वही –

अपने सोच-विचार एवं कार्यप्रणाली के स्तर पर समाजवादी मूल्यों से दूर-दूर तक सम्बन्ध न रखकर मात्र भाषण तक उससे नाता स्थापित करने वाले नेताओं ने ही समाजवाद के स्वरूप को विकृत किया है। शोषण एवं पीड़क कार्यों में लिप्त ऐसे ही लोगों के नेतृत्व में समाजवाद देश के लिए बहुत महँगा साबित हुआ है। राजकुमार कुम्भज ने अपनी कविता 'टुच्चे प्रजातन्त्र में' भारतीय समाजवाद के यथार्थ पर व्यंग्य किया है :

"उस दिन से तुम्हारा समाजवाद बहुत मँहगा हो गया
जिस दिन से
समाजवाद के बारे में
इन्दिरागांधी ने बोलना शुरू किया
कभी यह सम्भव है कि एक नाजुक तितली
समझती है - - - - - - - - --- - दर्द।"[1]

नागार्जुन ने 'अच्छा किया तुमने' शीर्षक कविता में भगतसिंह से अपने एक काल्पनिक वार्तालाप में समाज एवं राजनीति की जो यथार्थ स्थिति प्रस्तुत की है, वही यहाँ के समाजवाद का असली चरित्र है। भगतसिंह एवं उनके समाजवादी सहयोगियों ने शोषण एवं विषमतामुक्त समाज का सपना देखा था; गरीबों शोषितों का हित चाहा था। लेकिन स्वतन्त्र भारत के समाजवाद में शोषितों के अहित पर शोषकों का हित कायम है :

तुमने किसका भला चाहा था
तुमने किसका संग-साथ निबाहा था
क्या ये वही लोग थे -
गद्दार, जनद्रोही, अहसान फरामोश ?
हुकूमत की पीनक में मदहोश।"[2]

सर्वेश्वर दयाल को भारत का साम्यवाद एवं पूँजीवाद दोनों रास नहीं आता , क्योंकि दोनों अपने सिद्धान्तों के अनुसार क्रियाशील नहीं है, दोनों के दावे खोखले हैं । आम जनता की भलाई इन दोनों से सम्भव नहीं हो पा रही है । कुछ चालाक लोगों का ही हित इससे सध रहा है । सर्वेश्वर दयाल साम्यवाद एवं पूँजीवाद पर प्रहार करते हुए कहते हैं :

"साम्यवाद या पूँजीवाद
मैं दोनों पर थूकता हूँ
और पूछता हूँ
जिसके पैर में तुम जूता नहीं दे सकते
उसके हाथ में तुम्हें बन्दूक देने का क्या अधिकार है ।"[1]

6- चुनाव : राजनीति का खेल :-

चुनाव प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का मुख्याधार है, सैद्धान्तिक रूप से इस व्यवस्था में जनता को बिना किसी भय एवं दबाव के स्वेच्छा से गुप्त मतदान द्वारा अपने प्रतिनिधि को चुनने का अधिकार है । यह अधिकार उसके हाथ में एक ऐसे हथियार के रूप में है, जिसके द्वारा वह सत्ता की निरंकुशता पर अंकुश लगा सकती है, निरंकुश एवं भ्रष्ट शासकों को सत्ता से च्युत करके दूसरों को शासन में लाने का अवसर दे सकती है । लेकिन व्यवहारत: चुनाव का स्वरूप बड़ा विकृत रहा है । देश की निरीह जनता को भय, लालच एवं उन्माद के दबाव में अपना प्रतिनिधि चुनना पड़ता है । हर चुनाव में नेता एवं राजनीतिक दल अपने पक्ष में ऐसी लहर उत्पन्न करते हैं, जिसमें सोच-समझ के स्तर पर अधिकांश अप्रौढ़ मतदाताओं का बह जाना उनकी विवशता है । अब तक जाति-धर्म, भाषा एवं क्षेत्र के नाम पर जनता के मत को बाँट कर उसे

1- एक सूनी नाव - पृ0 53 , सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ।

अपनी समस्या के सही मुद्दे पर एक होने से रोका जाता रहा है और चुनावी वायदों एवं आश्वासनों से उसे ठगा जाता रहा है। लगभग पचास वर्षीय प्रजातन्त्रात्मक शासन के दौरान हुए विभिन्न चुनावों के द्वारा थोड़े भी समझदार मतदाता की समझ में यह बात आ गयी है, कि सारे नेताओं एवं राजीनतिक दलों का चरित्र प्राय: एक जैसा है; उनसे कोई राहत मिलने वाली नहीं है। चुनाव निरर्थक है। चुनावों की व्यावहारिक निरर्थकता ने कवियों, साहित्यकारों के मन को निरन्तर झकझोरा है और उनके मन में आक्रोश एवं विद्रोह का भाव भरा है। साठोत्तरीकविता में चुनावी छलावे के विरूद्ध विद्रोह का तीखा भाव व्यक्त हुआ है। नागार्जुन ने चुनाव पर व्यंग्य करते हुए लिखा है - "अब तो बन्द करो हे देवी, यह चुनाव का प्रहसन" चुनाव के माध्यम से चुने गये लोग चरित्रगत वैशिष्ट्य एवं कार्यविधि के स्तर पर अपने पूर्ववर्ती से किसी तरह भिन्न नहीं रहते हैं। बस उनका चेहरा ही नया रहता है, जिसमें जनता अपने हित की सम्भावना तलाशती है, लेकिन उसे कुछ मिलता नहीं। धूमिल के शब्दों में -

"- - - - - - - कुर्सियाँ वही हैं
सिर्फ टोपियाँ बदल गयी हैं।"[1]

धूमिल ने अपनी 'पटकथा' कविता में चुनाव या मतदान के दौरान किये जाने वाले राजनेताओं के वायदों पर बड़ी तीखी चोट की है। उनके द्वारा की गयी यह चोट एक लम्बे इन्तजार के बाद भी वायदों के पूरा न होने और जनता की स्थिति के न सुधरने का परिणाम है। बड़े साफ शब्दों में धूमिल कहते हैं :

1- संसद से सड़क तक - पृ0 124, पटकथा, धूमिल ।

"उसका इन्तजार किया
मैने इन्तजार किया
अब कोई बच्चा
भूखा रहकर स्कूल नहीं जायेगा
अब कोई छत बारिश में
नहीं टपकेगी
अब कोई आदमी कपड़ों की लावारी में
अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा
अब कोई दवा के अभाव में
घुट-घुट कर नहीं मरेगा
अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा
कोई किसी को नंगा नहीं करेगा
- - - - - - - - - - - -
ये सारे शब्द थे
सुनहरे वायदे थे
खुशफहम इरादे थे
सुन्दर थे
मौलिक थे
मुखर थे
मैं सुनता रहा
- - - - - -
मतदान होते रहे।"[1]

धूमिल ने लोकतन्त्र एवं मतदान पर तीखा प्रहार अपनी कविता 'ताजा खबर' में भी बड़े स्पष्ट ढंग से किया है :

1- संसद से सड़क तक - पृ0 101 , धूमिल

"मैं सोचता हूँ अपना परिवार
कल तक
हम अपने मतदान से बाहर
भरम में
एक हँसते गाते, पालते-पलाते लोकतन्त्र थे ।"[1]

लीलाधर जगूड़ी ने अपनी कविता 'अनैतिक' में चुनाव की सच्चाई का खुलासा किया है । चुनाव संकट का समाधान लेकर नहीं आता । चुनाव के बाद भी जनता को मँहगायी और रोटी की समस्या से जूझना पड़ता है । उसे कोई राहत नहीं मिलती :

"यहाँ से वहाँ तक चुनाव के बाद का संकट लेकर
पेट और प्रजातन्त्र के बीच
आदमी दरार की तरह खड़ा है
और बवंडर हर दरवाजे पर पर्दे की तरह पड़ा है ।"[2]

राजनेताओं के लिए तो चुनाव खिलवाड़ है । यदि विधान सभा एवं लोक-सभा रोज भंग होती रहे, और चुनाव रोज कराये जाते रहें, तो भी लाखों रुपये खर्च करके चुनाव लड़ने में उन्हें जरा-सी भी हिचक नहीं होगी, क्योंकि चुनाव का सारा खर्च वे किसी - न - किसी रूप में जनता से ही वसूलते हैं । चुनाव में उनका अपना कुछ नहीं जाता । एक बार चुन जाने के बाद तो वे आगामी चुनावी लड़ाई के खर्च के लिए धन संचय कर ही लेते हैं । इस सच्चाई को जगूड़ी ने अपनी निम्न कविता में खोल कर रख दिया है :

1- सुदामा पाण्डेय का प्रजातन्त्र - पृ0 27, धूमिल ।

2- नाटक जारी है - पृ0 65 , लीलाधर जगूड़ी ।

"तुम अपने मूर्धन्य जाल में
नागरिक शुभकामना के लिए न केवल कपास
बल्कि लोहा, चाँदी, अनाज और कपड़े की गाँठें
यहाँ तक कि दवाओं के रंगवाली
मिट्टियाँ भी चुनली हैं,
और जहाँ तक अगले चुनाव का प्रश्न है
लड़ने के लिए
तुमने मेरी हड्डियाँ भी चुनली है।"[1]

7- साम्प्रदायिकता : चुनावी राजनीति :-

पंथनिरपेक्षता की चेतना एवं मूलाधिकार के संरक्षण की भावना से युक्त संविधान वाले भारतवर्ष में मतप्राप्ति के लिए राजनीतिक दलों द्वारा जो अल्पसंख्यकों एवं बहुसंख्यकों की राजनीति चलायी गयी है, उसके चलते यहाँ की पंथनिरपेक्षता खोखली सिद्ध हुई है और साम्प्रदायिक एवं जातीय दंगों की नींव पड़ी है। साठोत्तरी कविता देश में विद्यमान साम्प्रदायिकता के प्रति पूरी सजग है और उसने उसके मूल में विद्यमान कारण पर तीखी चोट भी की है। गोरख पाण्डेय ने अपनी 'दंगा' शीर्षक कविता में चुनावी राजनीति को ही साम्प्रदायिक दंगों का कारण मानते हुए उस पर तीखा व्यंग्य किया है :

"आओ भाई बेंचू आओ,
आओ भाई अशरफ आओ
मिलजुलकर छुरा चलाओ
आपस में कट मर जाओ

x x x

1- रात अभी मौजूद है - पृ0 28, वही

इस बार दंगा बहुत बड़ा था
खूब हुई थी खून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल
मतदान की ।"[1]

साम्प्रदायिक दंगा भारत के सन्दर्भ में हिन्दू मुस्लिम दंगों का पर्याय बन चुका है । हिन्दू-मुसलमानों के मध्य नफरत की खाई को राजनीति एवं राजनेताओं ने अपने लाभ के लिए निरन्तर चौड़ा किया है - कभी अल्पसंख्यक के नाम पर और कभी बहु संख्यक के नाम पर । दोनों सम्प्रदायों के मध्य घृणा का भाव इस तरह से बढ़ गया है, कि वे परस्पर विश्वास करने की स्थिति में नहीं हैं । राजनीतिजन्य इस मानसिकता पर व्यंग्य करते हुए नागार्जुन ने लिखा है :

"कि इतने में
एक और युवक
इन कानों में
फुस फुसा के कह गया
"खबरदार यह मुसलमान है -
इसके रिक्शे पर
कभी न बैठना आप ।"[2]

साम्प्रदायिक दंगों की तरह जातीय दंगों के वीभत्स दृश्य भी आज दिखायी पड़ने लगे हैं । इन दंगों के पीछे भी चुनावी राजनीति का ही हाथ है । राजनीतिक दलों ने जातियों को अपने-अपने खेमे में बाँट लिया है । तात्पर्य जातियों का आज

1- जागते रहो सोने वालों - पृ० 22 , गोरख पाण्डेय
2- ऐसे भी हम क्या ऐसे भी तुम क्या - पृ० 15, नागार्जुन

राजनीतिक विभाजन हो गया है । वे किसी- न - किसी राजनीतिक दल के समर्थक हैं । राजनीतिक दल अपनी समर्थक जातियों को समय-समय पर महज इस लिए उकसाते रहते हैं, जिससे वे उनके पक्ष में अपनी प्रतिबद्धता बनाये रखें । इसी उकसावे के परिणामस्वरूप जातीय दंगे एवं संघर्ष हो जाते हैं । जातिगत राजनीति से प्रेरित जातीय दंगों को आड़े हाथ लेते हुए अरुण कमल ने लिखा है :

"मारे गये दस जन
यदुवंशी थे ?
बामन थे ?
क्षत्री थे ?
नहीं मालूम" [1]

राजनेता एवं राजनीतिक दल अपने द्वारा भड़काये गये जातीय दंगों की आग में जलकर मरने वालों के परिजनों की आँख के आँसू मुआवजे के वितरण या फिर मुआवजेकी माँग से पोंछते हैं । उनके इस कार्य में भी चुनावी राजनीति ही रहती है । ऐसा करके वे अपने को पीड़ितों के हमदर्द के रूप में पेश करते हैं । अरुण कमल ने अपनी 'जाल' कविता में जनता की लाश पर चढ़कर राजनीति करने वालों की असलियत का खुलासा किया है :

"सरकारी रिपोर्ट थी
गोली चलने से सिर्फ एक मौत
वो भी हास्पिटल में
तीन दिन बाद
पाँच हजार मुआवजा
भूल-चूक लेनी-देनी

1- अपनी केवल धार - पृ0 30, अरुण कमल

कल रात मछुआरों ने डाला था जाल
आज मछली नहीं निकली, निकलीं तीन लाशें ।"[1]

साठोत्तरी कविता : व्यवस्था की मौत का गान :-

साठोत्तर कवियों ने राजनीति के दोगलेपन, सत्ता के जनविरोधी स्वरूप एवं शोषक चरित्र का मात्र खुलासा करने तक ही अपने विद्रोह को सीमित नहीं रखा है । इन कवियों ने इस छद्म शासन व्यवस्था को अस्वीकार करते हुए उसे पलट देने के विचार से जहाँ उसके विरुद्ध वैयक्तिक स्तर पर सीधी कार्यवाही का ऐलान किया है,वहीं इस कार्य के लिए संगठित होने हेतु जनता का आह्वान भी किया है । केदार नाथ अग्रवाल ने अपनी 'वे' कविता में, देश को जनता के लिए कत्लगाह एवं अपने लिए आरामगाह के रूप में तब्दील करने वाले शासक वर्ग के लोगों की मौत का गीत गाने की बात कही है । मौत के गीत का यह गायन शासक व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के चिन्तन से प्रेरित है :

"हम गा रहे हैं
उनकी मौत का गान
जिन्हें आता है अब
इंसान को हैवान बनाना
खुद अपने लिए आरामगाह
और दूसरों के लिए
जगह - ब - जगह
कत्लगाह बनाना" [2]

रघुवीर सहाय जिन्दा रहने के लिए विद्रोह की आवश्यकता पर बल देते हैं । जब तक सत्ता के कुकृत्यों के विरुद्ध नहीं चीखा जायेगा, आवाज नहीं उठाई जायेगी,

उसके विरूद्ध सीधी कार्यवाही नहीं की जायेगी, तब तक स्थिति में बदलाव होने वाला नहीं है । दर्शक दीर्घा में बैठकर मात्र दर्शक की भूमिका निभाना अब पर्याप्त नहीं है । आज जरूरी हो गया है, कि हम विद्रोही की भूमिका में अपने को उतारें :

"एक बार जानबूझ कर फिर चीखना होगा
जिन्दा रहने के लिए
दर्शक दीर्घा से
रंगीन फिल्म की घटिया कहानी को
सस्ती शायरी के शैर
संसद सदस्यों से सुन चुकने के बाद ।"[1]

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना उस आम आदमी को आदमी होने का अहसास दिलाना चाहते हैं, जिसे सत्तासीन वर्ग पशु से अधिक नहीं समझता । वे बड़े तीखे स्वर में कहते हैं :

समय आ गया है
जब इन्हें आदमी और गधे का
रिश्ता समझाना होगा
इन्हें आदमी होने का अहसास कराना होगा
और उनको गधा होने का । - "जंगल का दर्द "

देश की बहुसंख्यक जनसंख्या अपनी बदहाली के मूल कारण को नहीं समझ पाती । वह यह नहीं जानती, कि हमारी दुर्गति के पीछे व्यवस्था तन्त्र का हाथ है । यही कारण है, कि इस तन्त्र के विरूद्ध खड़े हुए कुछ समझदार लोगों का वे साथ नहीं देते, उनके साथ कदम-से-कदम और कन्धा-से-कन्धा मिलाकर नहीं चलते । फलत:

1- आत्म हत्या के विरूद्ध - पृ० 70 , रघुवीर सहाय ।

व्यवस्था के विरुद्ध मुहिम कमजोर पड़ जाती है । सर्वेश्वर दयाल लोगों को कोंचते हुए कहते हैं :

> "यदि तुम जानते होते
> तो चुप नहीं बैठते
> इस तरह ।"

सर्वेश्वर दयाल शोषितों-दलितों के मन में व्यवस्था के विरुद्ध अपनी कविता के माध्यम से आग भड़काते हैं । वे उसे सत्ता पर आक्रमण कर देने की प्रेरणा देते हैं । वे जनता में आत्म विश्वास जगाते हुए कहते हैं, कि तुम हर जगह पहुँच सकते हो । व्यवस्था ने जो मार्ग तुम्हारे लिए बन्द कर रखा है, उसे तुम खोल सकते हो । तुम उन सारी शक्तियों को धराशायी कर सकते हो, जो तुम्हारा अधिकार तुमसे छीन रही हैं । कोई तुम्हें रोकने वाला नहीं है :

> 6"ऐसी कोई जगह नहीं
> जहाँ तुम पहुँच न सको
> ऐसा कोई नहीं
> जो तुम्हें रोक सके ।" -'जंगल का दर्द'

लेकिन ऐसा तभी सम्भव है, जब लोग अपनी शक्ति को पहचाने और सारे संशय को मिटा दें, टुकड़खोर आदत को छोड़ दे और स्वार्थ का परित्याग कर दे । थोड़ा हरकत में आने और अपने सोये मन को जगाने की जरूरत है, सारी स्थितियाँ बदल जायेंगी :

> 'संशय इस भाव को मिटा दो
> रोशनी जल उठेगी
> तुममें निर्भय
> पीठ पर रखा छुरा

लगेगा प्रोत्साहन का स्पर्श
और तुम बिजली की तरह
आगे बढ़ जाओगे अक्षय "1

"कुत्ता
आदत से टुकड़खोर है
तुम्हे टुकड़ खोरी के रास्ते
बन्द करने होंगे "2

"स्थिति
आसानी से बदली जा सकती है
केवल थोड़ी सी हरकत जरूरी है
तुम्हे हाथ बढ़ाना होगा
और अपने भीतर कहीं
बोतल की कार्क खोलनी होगी ।"3

अपनी 'भेड़िया' कविता में तो सर्वेश्वर दयाल ने सत्ता पर सीधे आक्रमण का ऐलान कर दिया है । वे कहते हैं,कि भेड़िया (सत्ता) की आँखें लाल हैं, यानी उसकी आँख में हिंसा का भाव है,वह तुम्हे नष्ट करना चाहता है । तुम्हारे शोषण के लिए वह तत्पर है । तुम तभी उससे अपनी रक्षा कर सकोगे,जब तुम भी अपनी आँखों में क्रोध एवं हिंसा का भाव भरकर उसकी ओर घूरोगे और उस पर आक्रमण करने के लिए तत्पर हो जाओगे :

1- जंगल का दर्द - पृ0 32, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
2- - वही - पृ0 47
3- - वही - पृ0 51

"भेड़िया की आँखें सुर्ख हैं
उसे तब तक घूरो
जब तक तुम्हारी आँखें
सुर्ख न हो जायें
और तुम कर भी क्या सकते हो
जब वह तुम्हारे सामने हो।"[1]

जब भेड़िया (शासन) आम आदमी के ऊपर गुर्रा रहा है, वह उसका अहित करने के लिए कटिबद्ध है, तो ऐसी स्थिति में जनता के पास विद्रोह ही एक ऐसा साधन है; जिसकी आग भड़का कर (शोषण सत्ता), भेड़िया को शक्तिहीन करके वह अपने अस्तित्व को सुरक्षित कर सकती है। सर्वेश्वर दयाल सत्ता के शोषण के आतंक को समाप्त करने के लिए विद्रोह की आग जलाने की बात कहते हैं :

"भेड़िया गुर्राता है
तुम मशाल जलाओ
उसमें और तुममें यही बुनियादी फर्क है
भेड़िया मशाल नहीं जला सकता
अब तुम मशाल उठा
भेड़िया के करीब आओ
भेड़िया भागेगा
करोड़ों हाथों में मशाल लेकर
एक-एक झाड़ी की ओर बढ़ो
सब भेड़िया भागेंगे

1- जंगल का दर्द - पृ० 26, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

फिर उन्हें जंगल के बाहर निकाल
बर्फ में छोड़ दो
भूखे भेड़िये आपस में गुर्रायेंगे
एक दूसरे को चीथ खायेंगे
भेड़िये मर चुके होंगे
और तुम "?[1]

कवि ने यहाँ विद्रोह की आग जलाकर भेड़िया - स्वार्थलोलुप, शोषक, भ्रष्ट, आदमखोर एवं पशु प्रवृत्ति वाले शासकों को नष्ट कर देने के लिए व्यग्र है। लेकिन ऐसा तभी सम्भव है, जब विद्रोह की ज्वालामुखी जन-जन के हृदय में जागृत रहे। सत्ता में भेड़िया प्रवृत्ति वाले लोग तो सदैव पैदा होते रहेंगे। अतः जरूरी है कि जनता जागृत हो और ऐसे लोगों को पहचान कर उनके विरुद्ध विद्रोह की आग भड़काये रखे :

"इतिहास के जंगल में
हर बार भेड़िया माँद से निकाला जायेगा
आदमी साहस से एक होकर
मशाल लिये खड़ा होगा"[2]

शोषकों के विरुद्ध विद्रोह की आग जलाने एवं भूख के खिलाफ लड़ाई लड़ने का काम उस आम जनता यानी शोषित जनता को ही करना है, जो धूल के सदृश सदैव रौंदी जाती रही है, उसमें शक्ति की कमी नहीं है। उसे दीमक की तरह संगठित हो पूरी व्यवस्था को नष्ट कर देना चाहिए :

1- जंगल का दर्द - पृ0 29, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
2- - वही -

"धूल हो जिन्दगी की सीलन से दीमक बनो
रातों रात सदियों से बन्द इन दरवाजों दीवारों की खिड़कियाँ
और रोशनदान वाल दो।"[1]

सर्वेश्वर दयाल अपनी कविता 'रेंगता साँप' में सत्ता के साँप से अपनी रक्षा के लिए उस पर सीधे आक्रमण करने की चेतना से युक्त हैं। इस कार्य के लिए वे इन्तजार नहीं करते, क्योंकि इन्तजार, शत्रु है, इन्तजारी आत्मघातक है :

"कंकड़ों में रेंग रहा है साँप
लाठियाँ मारने पर भी
वह सुरक्षित है।
क्या प्रतीक्षा करूँ
जब तक वह
समतल भूमि पर न आ जाए
या अपना अस्त्र बदल लूँ
इन्तजार
शत्रु है
उस पर यकीन मत करो।
वह जाने किन झाड़ियों
और पहाड़ियों में
घात लगाये बैठा रहता है
x x x
उससे बचो
जो पाना है फौरन पा लो
जो करना है फौरन करो"[2]

1- जेल का दर्द - पृ0 39, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
2- - वही - पृ0 42.

सर्वेश्वर दयाल बार-बार जनता को उसकी शक्ति का अहसास दिलाते हैं, उसे उसके अकेले न होने का विश्वास दिलाते हैं और उसे संशय एवं द्वन्द्व से मुक्त करने का प्रयास करते हैं, जिससे वह विद्रोह की आग जला सके :

"विपत्ति में
तुम अकेले नही हो
असंख्य सोते कुलबुलाते हैं
चट्टानों में
मिलकर एक धारा बनने को
इसे पहचानो
राह निकलेगी निश्चय।" -'जंगल का दर्द'

धूमिल इस व्यवस्था के सख्त खिलाफ हैं। वे इसे उखाड़ फेंकने के लिए लोगों से तनने और अकड़ने को कहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं, कि व्यवस्था के हाथ का खिलौना बनकर उसे नहीं उखाड़ा जा सकता। इसके लिए आवश्यक है, कि जनता अपनी सोच बदले। वह संगठित होकर शक्ति अर्जित करे और अपनी जड़ को मजबूत बनाये :

"हर हाथ में
गीली मिट्टी की तरह हाँ हाँ मत करो
तनो
अकड़ो
अमर बेलि की तरह मत जियो
जड़ पकड़ो
बदलो - अपने आपको बदलो"।

।- संसद से सड़क तक-48 धूमिल

अपनी 'पटकथा' कविता में धूमिल ने लोगों को अपनी समस्या का समाधान स्वयं ढूँढने के लिए कहा है। हम अपनी शक्ति जगाकर आत्मबल से ही अपनी समस्या का स्थायी समाधान ढूँढ सकते हैं। समस्यायें सबकी एक हैं, उसका हल एक-जुटता से ही सम्भव है। सारी जनता एक होकर व्यवस्था के तिलिस्म को ध्वस्त कर सकती है और सत्ता को अहसास दिला सकती है कि बिना मेरी सहभागिता के कुछ सम्भव नहीं है :

"जो अपने चेहरे की राख
दूसरों की रूमाल से झाड़ता है
जो अपना हाथ
मैला होने से डरता है
वह एक नहीं ग्यारह कायरों की
मौत मरता है
और सुनो। नफरत और रोशनी
सिर्फ उसके हिस्से की चीज है
जिसे जंगल के हाशिये पर
जीने की तमीज है
इसलिए उठो और अपने भीतर
सोये हुए जंगल को
आवाज दो
उसे जगाओ और देखो
कि तुम अकेले नहीं हो
और न किसी के मुहताज हो
लाखों हैं जो तुम्हारे इन्तजार में खड़े हैं
वहाँ चलो। उनका साथ दो
और इस तिलस्म का जादू उतारने में
उनकी मदद करो और साबित करो

कि वे सारी चीजें अन्धी हो गयी है
जिनमे तुम शरीक नहीं हो ।"[1]

'संसद से सड़क तक' के अपने सफर में धूमिल ने विसंगतियों का हर स्तर पर साक्षात्कार किया है । स्वानुभूतसत्य के आधार पर उन्होंने पाया, कि यह व्यवस्था बिल्कुल नककारा है । यह दल-दल है, जिसमें पूरा देश फँसा हुआ है । अत: उसमें से निकलना और उसे बदलना दोनों जरूरी है । 'पटकथा' कविता में 'हिन्दुस्तान' सत्ता एवं व्यवस्था को बदलने की बात कहता है :

"यहाँ आओ
मेरे पास आओ
मुझे छुओ
मुझे जियो । मेरे साथ चलो
मेरा यकीन करो । इस दल-दल से
बाहर निकालो
सुनो
तुम चाहे जिसे चुनो
मगर इसे नहीं । इसे बदलो "[2]

अपनी इसी कविता में धूमिल ने इस व्यवस्था से अपनी ऊब को मुकाम तक पहुँचाने की बात कही है । ऐसा करने के लिए उन्होंने लोगों को अपने विचारों को ठोस धरातल पर आधारित करने एवं मासूमियत को छोड़कर खौफनाक हो जाने का सुझाव दिया है :

1- संसद से सड़क तक - पृ0115 - धूमिल
2- - वही - पृ0 111-12

"अपनी आदतों में
फूलों की जगह पत्थर भरो
मासूमियत के हर तकाजे को
ठोकर मार दो
अब वक्त आ गया है कि तुम उठो
और अपनी ऊब को आकार दो ।"[1]

वे लोगों से कहते हैं, कि इस पूरी व्यवस्था में तुम्हारा कोई हमदर्द नहीं है । यह भूल जाओ, कि तथाकथित सुविधापरस्त बुद्धिजीवियों की यह जमात व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह में तुम्हारा साथ देगी । मैंने इन सबको देख लिया है, ये कहीं - न - कहीं पूँजीवादी व्यवस्था के ही हिमायती हैं । सुविधापरस्ती ने इन्हें पौरुष-विहीन बना दिया है । चन्द सुविधाओं के लोभ में इन्होंने वास्तविकता से मुँह मोड़ लिया है । तुम्हें विद्रोह की आग स्वयं जलानी होगी :

"नहीं - अपना कोई हमदर्द
यहाँ नहीं है । मैने एक-एक को
परख लिया है ।
मैने हर एक को आवाज दी है
हर एक का दरवाजा खटखटाया है
मगर बेकार - - - - मैंने जिसकी पूँछ
उठाई है उसको मादा
पाया है ।
वे सब के सब तिजोरियों के
दुभाषिये हैं ।

1- संसद से सड़क तक - पृ0113 - धूमिल

वे वकी हैं । वैज्ञानिक हैं
अध्यापक हैं । नेता हैं । दार्शनिक
हैं । लेखक हैं । कवि हैं । कलाकार हैं ।
यानी कि -
कानून की भाषा बोलता हुआ
अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है ।"[1]

विद्रोह का खुला ऐलान करने वाले धूमिल विद्रोह को नाकाम करने वाली शक्ति की ओर भी संकेत करते हैं । पूंजीवाद जहाँ एक ओर लोगों का शोषण करता है, वहीं दूसरी ओर शनैः-शनैः परिवर्तन, बदलाव एवं विकास की बात कहकर उनके मन में चमकने वाली असन्तोष की चिनगारी को विद्रोह की ज्वाला में परिवर्तित होने से रोकता है । सतही सुविधाओं की जो लालच पूंजीवादी तन्त्र द्वारा दी जाती है, वह विद्रोह के लिए घातक है । उससे निर्लिप्त रहकर ही विद्रोह की बात की जा सकती है :

"- - - - - - - - - मैं
कोई ठण्डा आदमी नहीं हूँ
मुझमें भी आग है
मगर वह भभक कर बाहर नहीं आती
क्योंकि उसके चारों तरफ चक्कर काटता हुआ
एक पूंजीवादी दिमाग है
जो परिवर्तन तो चाहता है
मगर आहिस्ता - आहिस्ता
कुछ इस तरह कि चीजों की शालीनता
बनी रहे

1- संसद से सड़क तक - पृ0126 - धूमिल

कुछ इस तरह कि काँख भी ढँकी रहे
और विरोध में उठे हाथ की
मुट्ठी भी तनी रहे
और यही वजह है कि बात
फैलने की हद तक
आते - आते रुक जाती है
क्योंकि हरबार
चन्द टुच्ची सुविधाओं के लालच के सामने
अभियोग की भाषा चुक जाती है ।"[1]

जगूड़ी जनता को व्यवस्था के विरुद्ध संकेत करते हैं, उसे उसके विरुद्ध उकसाते हैं । उनके इस उकसाने में अराजकता फैलाने जैसी बात नहीं है । सच्चाई यह है, कि बिना शोषक व्यवस्था के विरुद्ध खड़े हुए आम आदमी अपने अस्तित्व को खो देगा । अत: बिना इन्तजार किये, व्यवस्था के विरुद्ध अपने को स्थापित करके जनता को चाहिए, कि वह सत्ता से यह बता दे कि जिसे वह नहीं चाहेगी, नष्ट कर देगी :

"तुम न कुछ बोल रहे हो न हँस रहे हो
क्या तुम्हें कोई गम नहीं । इतने पेड़ मत बनो
अपनी खाल खींचते - खींचते
किसी भी विधायक की उम्र तीस से कम नहीं है ।"[2]

"तुम इन्तजार करोगे तो एक दिन
आदमी जैसी शक्ल के लिए तरसोगे ।"[3]

1- संसद से सड़क तक - पृ0 116 - धूमिल
2- नाटक जारी है - पृ0 83 , जगूड़ी
3- - वही - पृ0 84

"मैं चाहता हूँ
तुम अपने निर्माणाधीन भविष्य के बारे में
उठ खड़े होओ
मैं चाहता हूँ, तुम यह बता दो
कि हौसला खत्म नहीं हुआ है
और तुम अब भी
जिसको नहीं चाहोगे नष्ट कर सकते हो।"[1]

वेणु गोपाल पूरी व्यवस्था को, जो कि जंगल राज के रूप में कायम है, अपनी 'कलम' यानी रचना के माध्यम से जन-जन के मध्य विद्रोह का दावानल फैलाकर विनष्ट कर देना चाहते हैं :

"पुनश्च के नाम पर कविता लिखकर अपने को
बहलाना मेरा शगल नहीं। शगल तो यह भी नहीं
कि राह चलते बिम्ब या प्रतीक से
टकराऊँ और फिर उसके या अपने खून की नुमाइश
करते हुए किसी युद्ध की कहानियाँ सुनाऊँ। एक
जंगल है सिर की जगह पर और एक
माचिस है मेरे हाथ में कलम के नाम पर। चाह है
कि एक दावानल भड़काऊँ ताकि अपने होने को
मंजूर करने की राह पहचान सकूँ।"[2]

श्री राम कलश ने अपनी निम्न कविता में किसानों-मजदूरों एवं नवजवानों का विद्रोह के लिए आह्वान किया है। जनता की सुख सुविधाओं को अपने हित में 'काटने' वाले तथा उसको विभिन्न वर्गों में बाँट रखने वाले पूँजीवाद के पोषकों को सड़क पर नंगा कर देने की प्रेरणा इस कविता में निहित है :

1- रात अभी मौजूद है - पृ0 42, जगूड़ी
2- वे हाथ होते हैं - पृ0 53 , वेणु गोपाल

"मजूर आ । किसान आ । वतन के नवजवान आ

- - - - - - - - - - - - - - - - - -

सुबह की रोशनी से जिसने तुमको काट रखा है

दिलों की बस्तियों को साजिशों में बाँट रखा है

सड़क पर खींच ला कि उनको सबक सिखा दे तू ।

शहीद बनके इंकलाब का दिया दिखा दे तू ।"[1]

हरिहर द्विवेदी ने बहुसंख्यकों की सुख-सुविधाओं का अपहरण करने वालों के प्रति हिंसात्मक रुख अख्तियार किया है :

"तुम्हे दो चार की खुशी के लिए प्यारा है हजारों की मौत का कानून
और हमें लाखों करोड़ों की खुशी के लिए
प्यारा है दो चार का खून
मै हत्यारा हूँ
कबूल है मुझे यह इल्जाम
हिम्मत हो तो मिलाओ विशाल जनता से
अपनी पवित्र गंगा-यमुनी आँखें
तुम्हारे अस्पष्ट हस्ताक्षर के बदले
कर रहा हूँ साफ-साफ दस्तखत
हरिहर द्विवेदी बकलम खुद
पहली जनवरी 1970 ।"[2]

माहेश्वर ने अपनी कविता 'अपना देश' में कहा है, कि अब सत्ता से डरने एवं उसके आश्वासनों में उलझे रहने का वक्त नही है । हम उससे बहुत डर चुके हैं, उसके वायदों की बहुत प्रतीक्षा कर चुके हैं । अब जरूरत है, कि हम उस समय को पहचाने उस समस्या को समझें, जो हमारे दरवाजे पर खड़ी है :

1- अवकाश - 4 - पृ0 71

2- शुरुआत - पृ0 40 , हरिहर द्विवेदी ।

"आखिर कहाँ तक डरेगा आदमी
तोड़ना ही होगा उसे
अपनी छाती पर रखा प्रतीक्षा का यह शिलाखण्ड
और स्वीकार करनी होगी
अपने देश और अपने किवाड़ों पर
दस्तक देते समय की पहचान ."[1]

रमेश रंजक ने अपनी कविता 'वह आदमी' में शासन की बन्दूक पर जनता की लाठी के भारी होने का विश्वास व्यक्त किया है । यदि जनता के मन में सुलगती हुई विद्रोह की आग भड़क जाय और वह सत्ता के अत्याचारों का मुकाबला करने के लिए लाठी लेकर निकल पड़े, तो सत्ता की शक्ति नष्ट हो जायेगी तथा उसके अत्याचारों से मुक्ति मिल जायेगी :

"सुलगती आग
जब लाठियों में उतर आयेगी
उसकी बन्दूक की हुकूमत धरी रह जायेगी ।"[2]

राजकुमार कुम्भज की रचना 'कविता में कविता के लिए' में सत्ता के विरुद्ध विद्रोह को हवा देने का विचार है :

"बुझते विद्रोह को
हवा देना है
और सत्ता को देना है
व्यावहारिकता के तमाचे ।"[3]

1- समकालीन कविता की भूमिका - पृ0 221 ,सं0 मंजुल उपाध्याय एवं विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ।

2- मिट्टी बोलती है - पृ0 84 - 85 , रमेश रंजक

3- विचार कविता की भूमिका - पृ0 107, सं0 डा0 नरेन्द्र मोहन, महीपसिंह

मणि मधुकर की लम्बी कविता 'घास का घराना' में जनता के शोषण का कारण उसकी न-समझी को बताया गया है । वह अपनी ताकत अपनी हैसियत पर ध्यान नहीं देती और न-ही अपने साथ किये जा रहे शोषण पर मलाल ही करती है :

"वे अन्धे और पंगु और वाचहीन जो जनतन्त्र का
बोझा उठाने वाले दमदार थम्बे हैं कतई नहीं जानते
कि वे क्या है/ और क्यों है/ उन्हे अपनी हैसियत,
अपनी ताकत की कोई परवाह नहीं/ न ही यह मलाल कि सालो साल
बेगारी में इस्तेमाल किये जा रहे हैं/ "।

यहाँ कवि ने शोषितों को उनकी दुर्गति के प्रति सचेत करने का प्रयास किया है । उसने यहाँ प्रत्यक्ष रूप से विद्रोह के लिए आह्वान तो नही किया है, लेकिन जनता को सचेत करने का उसका प्रयास उसे विद्रोह की ओर ही ले जाता है ।

गोरख पाण्डेय की कविता 'उनका डर' पूँजीवादी व्यवस्था के जनता से भयभीत होने की ओर संकेत करती है । सारी शक्ति के होते हुए भी यह व्यवस्था जनसामान्य से भयभीत रहती है । उसे यह बराबर डर बना रहता है कि वे कहीं उससे डरना बन्द न कर दें । शोषक वर्ग इस सच्चाई को जानता है कि जिस दिन जनसामान्य हमसे डरना बन्द कर देंगे, अपने अधिकार के लिए मेरे विरुद्ध खड़े हो जायेंगे, उस दिन मेरा अन्त हो जायेगा । हमारी शक्ति जनशक्ति के समक्ष टिक नहीं पायेगी :

"वे डरते हैं
किस चीज से डरते है वे
तमाम धन दौलत
गोला बारूद पुलिस फौज के बावजूद ?

1- लहर - 1-2 जुलाई अगस्त 1972 , पृ0 46

वे डरते हैं
कि एक दिन
निहत्थे और गरीब लोग
उनसे डरना बन्द कर देंगे ।"[1]

व्यवस्था के अत्याचार से न डरने से ही विद्रोह की शुरूआत होती है । उक्त कविता में गोरख पाण्डेय ने शोषक सत्ता के मन में व्याप्त भय की सच्चाई से लोगों को अवगत कराते हुए उनमे न डरने और विद्रोह करने की सोच पैदा की है ।

व्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह का आह्वान कुमार विकल की निम्नकवितामेंस्पष्ट है । उन्होंने सुविधा परस्त लोगों को समय रहते हुए पूँजीवादी दलदल से निकल कर अभावों की दुनिया में रहने वाले शोषितों के साथ एक जुट होकर संघर्षरत होने के लिए आवाज दी है :

"समय है कि तुम
इन कमरों से बाहर आजावो
और अपने नये खरीदे जूते को
दलदल में छोड़कर
उस रेगिस्तान में लौट जावो
जहाँ तुम्हारे साथी
पानी की मशकों के इंतजार में होंगे ।"[2]

उदय प्रकाश जनता को प्रेरित कराते हुए कहते हैं, कि तुम्हारे एवं तुम्हारे हक के मध्य यह व्यवस्था एक दीवार की तरह खड़ी है । इस व्यवस्था ने तुम्हारे हक को अवरूद्ध कर रखा है । यदि तुम चाहते हो, कि तुमको तुम्हारा हक मिले, तुम

1- जागते रहो सोने वालो - पृ0 26 - गोरख पाण्डेय
2- विपथगामी - कुमार विकल

तक रोशनी पहुँचे तो तुम्हे व्यवस्था की दीवार तोड़नी होगी :

"तैयार हो जाओ
अपनी ईमानदार छेनी और
हमलावर हथौड़े की चोट का
संस्मरण सहेजो
उन्हें ठोस आकार की सार्थक
सच्चाई दो रोशनी के खिलाफ दीवार का
एक-एक पत्थर दरकाओ ।"[1]

निष्कर्षत: साठोत्तरी कविता ने समकालीन जनजीवन को प्रभावित करने वाली राजनीतिक, विसंगतियों के प्रति तीखा विद्रोह किया है । उसका यह सारा विद्रोह विसंगतियों के यथार्थ चित्रण, विसंगतियों के कारकों के विरूद्ध सीधी कार्यवाही एवं व्यंग्य के रूप में व्यक्त हुआ है । राजनीतिक व्यवस्था के विरूद्ध इस कविता का विद्रोह अपेक्षाकृत अधिक तीखा एवं सघन है । अत: उसे प्राय: राजनीतिक विद्रोह के रूप में जाना जाता है । इस दौर के कवियों ने अपनी विद्रोही दृष्टि को जानबूझ कर राज - नीति पर अधिक केन्द्रित किया है । कारण,ये कवि इस सत्य से भलीभाँति परिचित रहे हैं;कि वर्तमान परिवेश में राजनीति का हस्तक्षेप जीवन के हर क्षेत्र में है और उसका चारित्रिक पतन ही जनजीवन की प्राय: सारी असंगतियों के लिए उत्तरदायी है । इस कविता ने जहाँ एक ओर स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक व्यवस्था से जनता के हुए मोहभंग के कारण उत्पन्न विभिन्न जनविद्रोहों एवं आन्दोलनों (नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह, जयप्रकाश का युवा आन्दोलन आदि) से स्वर मिलाकर अपने विद्रोही

1- प्रगतिशील कविता के मीलपत्थर - पृ0 307 , सं0 रणजीत ।

तेवर को प्रकट किया है, वहीं दूसरी ओर सम्पूर्ण राजनीतिक परिवेश की सच्चाई का खुलासा करते हुए राजनीति एवं शासनतन्त्र के विभिन्न अंगों, संस्थाओं तथा मान्यताओं - संसद, संविधान, स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र, नेता, समाजवाद, चुनाव आदि पर जोरदार चोट करके अपनी विद्रोही चेतना का परिचय दिया है । स्वाधीन भारत की जनविरोधी राजनीति के प्रति इस कविता का विद्रोह वहाँ और भी तीखा हो गया है, जहाँ इसने जनसामान्य के पक्ष में खड़े होकर व्यवस्था को ललकारा है और उसे उखाड़ फेंकने के लिए जनता का आह्वान किया है ।

अध्याय - पाँच

साठोत्तरी कविता का आर्थिक सामाजिक विद्रोह

आर्थिक, बदहाली का खुलासा :-

स्वतन्त्रता के बाद के दिनों में भारतीय जनगण की आशा के विपरीत, देश में शोषण का जो एक जघन्य माहौल बना तथा आर्थिक विसंगतियों के कारण जनजीवन में जो घोर संत्रास की स्थिति उत्पन्न हुई, उसे साठोत्तर कविता में बेनकाब किया गया है । ऐसा करके इस दौर के कवियों ने प्रत्यक्ष - अप्रत्यक्ष रूप में भारतीय राजनीति को ही आड़े हाथ लिया है । इस दौर की कविता में निहित शोषण के विरूद्ध विद्रोह, या यों कहें कि जन विरोधी अर्थतन्त्र के विरूद्ध विद्रोह मूलतः राजनीति के प्रति किया गया विद्रोह है । कारण, शासन या राजनीति की नीतिगत खामियाँ एवं कार्यविधि की धाँधलियाँ ही आज की स्थिति में जनता की आर्थिक बदहाली के लिए उत्तरदायी हैं । साठोत्तरी कविता में शोषण के विरूद्ध विद्रोह का जो भाव व्यक्त हुआ है, वह हर जगह उखाड़ - पछाड़ एवं विध्वंस के तेवर से ही युक्त नहीं है । कवियों ने शोषण की प्रकृति, शोषकों की गतिविधि एवं शोषितों की स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करके या फिर शोषण की समग्र प्रक्रिया पर व्यंग्य करके अपने विद्रोह को स्वर दिया है ।

साठोत्तर कवि स्वतन्त्र भारत में व्याप्त शोषण की समग्र स्थिति को बाखूबी पहचानते हैं । शोषण किस तरह किया जा रहा है उसमें कौन लोग सम्मिलित हैं, इसको उन्होंने विधिवत समझा है । शोषण सम्बन्धी अपनी गहरी समझ के कारण ही वे शोषण का पर्दाफाश कर सके हैं । नागार्जुन की निम्न कविता में आर्थिक शोषण की प्रक्रिया का स्पष्ट बयान किया गया है । उन्होंने लिखा है कि जनता मिलावट एवं बाजार में उत्पन्न की गयी मँहगायी से त्रस्त है और सत्ता भी इस

कालाबाजारी का समर्थन कर रही है :

> भूसी मिला-मिला कर चीनी,
> बेच रहा बनिया का बेटा ।
> कंकालों पर बिछा दी गयी,
> खद्दर की सतरंगी चादर ।
> बन्दूकें हँस पड़ी कि देखा,
> चन्दन के चरने का आदर
> x x x x
> नीचे निपट गरीबी ऊपर हाट बाट की रजत जयन्ती ।
> शर्म न आती मना रहे वे महँगायी की रजत जयन्ती ।।[1]

शोषण की असलियत पर धूमिल ने अपनी कविता में तीखा प्रहार किया है । वे व्यक्ति की आर्थिक मुक्ति के हामी रहे हैं । उनकी दृष्टि में आर्थिक स्वावलम्बन के बिना स्वतन्त्रता को सार्थक नहीं कहा जा सकता । उनके इसी चिन्तन ने उन्हें शोषण के विरुद्ध ला खड़ा किया है । वे राजनीतिक व्यवस्था एवं राजनेताओं को ही शोषण के कारण के रूप में देखते हैं । अपनी 'अकाल दर्शन' कविता में उन्होंने शोषण के मूल में कार्यरत शक्ति पर तीखी चोट की है :

"मगर वे हैं कि असलियत नहीं समझते/ अनाज में छिपे उस आदमी की नीयत/ नहीं समझते/ जो पूरे समुदाय से/ अपना गिजा वसूल करता है ------ यह सब कैसे होता है मैं उनको समझाता हूँ/ ------ वह कौन सा प्रजातान्त्रिक नुस्खा है/ कि जिस उम्र में मेरी माँ का चेहरा/ झुर्रियों की झोली बन गया है/ उसी उम्र की मेरे पड़ौस की महिला/ के चेहरे पर/ मेरी प्रेमिका के चेहरे - सा लोच है/ "[2]

1- नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ - भाग 2, पृ0 197 ।

2- संसद से सड़क तक - पृ0 17 - 18, धूमिल ।

"यह मेरे देश की जनता है/ जनता क्या है ?/ - - - - - - - - एक भेड़ है/ जो दूसरों की ठण्ढ के लिए अपनी पीठ पर ऊन की फसल ढो रही है/।"[1]

इस दौर के कवियों ने स्वतन्त्र भारत की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था की छत्रछाया में जहाँ एक ओर वैयक्तिक स्तर पर शोषण का अनुभव किया है, वहीं दूसरी ओर वे वैचारिक स्तर पर जनवादी रहे हैं। यही कारण है कि उनके हृदय में शोषण के कुचक्र में पिसती हुई जनता के प्रति सघन संवेदना एवं छटपटाहट है। उन्होंने शोषित जनता की हर पीड़ा को अपनी कविता में पूरी सच्चाई के साथ प्रस्तुत कर के सत्ता, अर्थव्यवस्था एवं प्रजातन्त्र की सार्थकता पर प्रश्न चिन्ह लगाया है। नागार्जुन की निम्न कविता देश के लाखों - करोड़ों लोगों की भूख एवं दयनीयता का चित्रण करके सत्ता एवं अर्थव्यवस्था का पोल खोलती है और व्यंग्यात्मक ढंग से उसके विरुद्ध अपना विद्रोह भी व्यक्त करती है। 'प्रेत का बयान' शीर्षक कविता प्रायमरी स्कूल के एक अध्यापक का बयान न होकर स्वतन्त्र भारत के उन लोगों की दु:ख भरी कहानी है जो गरीबी की रेखा के नीचे रहकर जीवन यापन करते हैं। भूख जिनकी जिन्दगी से इतनी घुली-मिली रहती है कि दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता :

"नागरिक हम हैं स्वाधीन भारत के
x x x x x
तनखाह थी तीस सो भी नहीं मिली
मुश्किल से काटे हैं, एक नहीं दो नहीं नौ-नौ महीने
आपकी छाया में मैं ही था बाकी
x x x x

1- संसद से सड़क तक - पृ0 104, पटकथा, धूमिल ।

मर कर हँस पड़ा नरक का राजा
अविश्वास की हँसी हँसो दण्डपाणि महाकाल
वाह भाई वाह । सो तुम भूख से नहीं मरे
किन्तु भूख या क्षुधा नाम हो जिसका
ऐसी किसी व्याधि का पता नहीं हमको -'प्रेत का बयान' नागार्जुन

देश की गरीब जनता भूख से तबाह है । वह दिन भर कठोर श्रम करने के बावजूद भी अपने परिवार के लिए दो-जून की रोटी का जुगाड़ नहीं कर पाती । उसमें हिम्मत है, काम करने की ललक है, लेकिन 'काम' एवं उचित पारिश्रमिक न मिलने के कारण वह एकदम बदहाल है । पेट पालने के लिए वह कहीं भी जाकर कितना भी काम करने के लिए तत्पर है । अपने देश, अपने परिवेश को छोड़कर रोटी की तलाश में भटकने एवं पग-पग पर शोषित होने वाली ऐसी ही गरीब जनता का चित्र केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी निम्न कविता में उकेरा है :

"मैने कहा/ कहाँ चले ?/ बोला वह/ काम जहाँ चले पेट जहाँ पले/ दाल जहाँ गले/ मैंने कहा ऐसी जगह कहाँ ?/ बोला वह पता नहीं कहाँ/ शायद है वहाँ -/ धरती और अम्बर का छोर जहाँ/ मैंने कहा वह बड़ी दूर है/ बोला वह हिम्मत भरपूर है/।"[1]

देश की शोषित गरीब जनता भोजन के स्वाद से वंचित है । वह भोजन नहीं करती बल्कि किसी तरह पेट भरती है । रोटी के टुकड़ों पर जीती है । दिन भर कठिन श्रम करने के बाद भी उसे आराम नहीं मिलता । वह हाँफते काँखते अपनी रात

1- आग का आइना - पृ0 82 , केदारनाथ अग्रवाल ।

नंगी जमीन पर सोकर बिताती है । बदबू भरी जगह में ही उसको रहना पड़ता है । यही उनके जीवन का यथार्थ है । केदार नाथ अग्रवाल ने निम्न कविता में शोषित एवं गरीब जनता की जिन्दगी का यह दयनीय दृश्य बड़े आक्रोश के साथ व्यक्त किया है :

"खाते हैं पेट की थैली में गाड़ते हैं/ रोटी के टुकड़े दाँत से काटते हैं/ माँजते हैं वर्तन नंगी धरती पर/ सोते हैं काँखते-हाँफते रोज की बदबू में सड़ते हैं दुनिया की/ मैंने देखा है नग्न नृत्य पापों से बोझिल धर्म कृत्य/ भूखी आत्माओं का विलाप पागल कुत्तों का सा प्रलाप/।"[1]

स्वतन्त्रता के बाद देश में प्रजातन्त्र का जो स्वरूप सामने आया वह शोषण से मुक्त नहीं है । उसमें एक ओर भूखे लोग है और दूसरी ओर रैली, तथा ढोंग एवं विश्वासघात पूर्ण भाषण है । सत्ता का यह विश्वासघाती एवं ढोंगी चरित्र जनता को तबाह कर रहा है :

"यह बन्द कमरा सलामी मंच है/ जहाँ मैं खड़ा हूँ/ पचास करोड़ लोग खाली पेट बजाते/ ठठरियाँ खड़खड़ाते/ हर क्षण मेरे सामने से गुजर जाते हैं/ झाँकियाँ निकलती हैं/ ढोंग की विश्वासघात की/।"[2]

सर्वेश्वर दयाल ने स्वातन्त्र्योत्तर भारत की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में उपजी निर्धनता एवं भूख का जो प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत किया है वह पाठकों को हिला देने वाला है । उनकी निम्न कविता में भारत की उस बहुसंख्यक जनता का जीवन साकार है जो किसी तरह जिन्दगी ढो रही है :

1- पंख और पतवार - पृ0 28 , केदारनाथ अग्रवाल

2- गर्महवाएँ - पृ0 14 - 15, 'यह खिड़की', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ।

"हर गाँव में आज भी/ भाड़ के सामने काली भूतनी सी आज भी वह बैठी है/ पसीने से चिपचिपाती देह लिये चुपचाप खामोश एक - एक चने से अपना भाग्य जोड़ती दुःखती रगें तोड़ती/ उसके अधनग्न बच्चे/ भाड़ झोंकने के लिए दिन भर सूखी पत्तियाँ बटोरते हैं/ और शाम को मक्के की रोटी और नरई का साग अगोरते हैं/।"[1]

इस शोषणाधारित समाज में व्यक्ति की संवेदना मर गयी है । लोगों को अपने लाभ से मतलब है किसी की पीड़ा से नहीं । संवेदनहीनता के कारण ही शोषण बढ़ा है । गोदामों के अनाज से भरे रहने पर भी जनता को भूखों मरना पड़ रहा है । धूमिल लिखते हैं :

"वहाँ बंजर मैदान/ कंकालों की नुमाइश कर रहे थे/ गोदाम अनाजों से भरे पड़े थे और लोग/ भूखों मर रहे थे/ मैंने महसूस किया कि मैं वक्त के एक शर्म - नाक दौर से गुजर रहा हूँ/ अब ऐसा वक्त आगया है जब कोई/ किसी का झुलसा हुआ चेहरा नहीं देखता है/ - - - - - - - - - - /हर आदमी सिर्फ अपना धंधा देखता है/।"[2]

लीलाधर जगूड़ी की निम्न कविता में गाँव की त्रासदी का बड़ा सहज बयान हुआ है । भूख एवं गरीबी से त्रस्त ग्रामीण जीविका की खोज में बाहर चले गये हैं, जिससे सारा गाँव सूने घोंसले में बदल गया है । बाढ़ एवं अकाल पीड़ित जनता की दयनीय दशा को नजरन्दाज करके सरकार कर्ज की वसूली में मुस्तैदी दिखाने से बाज नहीं आती :

1- कुआनो नदी - पृ0 46 - 47, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ।

2- संसद से सड़क तक - पृ0 108, पटकथा - धूमिल ।

"लेकिन गाँव के तमाम चेहरे/ सूने घोसले में बदल गये/ जिसमें वारन्ट और अकाल/ और बाढ़ के समकालीन पक्षी हरेक पत्ती को/ झांसा देते हुए उड़ रहे हैं/।[1]

चन्द्रकान्त देवताले की निम्न कविता भारत की जनतन्त्रात्मक व्यवस्था की पोल खोलती है । यह व्यवस्था देश के भावी कर्णधार बहुसंख्यक बच्चों के साथ सौतेला व्यवहार कर रही है । देश के गरीब लोगों के बच्चे, जिनकी संख्या सर्वाधिक है, ले-देकर अभावों में जी रहे हैं । जबकि सम्पन्न लोगों के बच्चे जो संख्या में कम हैं, सारी सुविधाओं से युक्त हैं :

"थोड़े से बच्चों के लिए/ एक बगीचा है/ उनके पाँव दूब पर दौड़ रहे हैं/। असंख्य बच्चों के लिए/ कीचड़, धूल और गन्दगी से पटी गलियाँ हैं जिनमें वे/। अपना भविष्य बीन रहे हैं/ एक मेज है/ सिर्फ छः बच्चों के लिए/ और उनके सामने/ उतने ही अण्डे और उतने ही सेब है/ एक कटोरदान है सौ बच्चों के लिए और हजारों बच्चे/ एक हाथ में रखी आधी रोटी को/ दूसरे से तोड़ रहे हैं/ सिर्फ कुछ बच्चों के लिए/ एक आकर्षक स्कूल है/ और प्रसन्न पोशाकें हैं ।"[2]

व्यक्ति कितनी भी प्रगति करले,समय कितना भी गुजर जाय, लेकिन मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता भरपेट भोजन ही रहेगी । "हजारों वर्षों के बाद भी अतृप्त इच्छायें/ आज भी सबसे बड़ी इच्छा है भरपेट अन्न/ पृथ्वी किस लिए घूमती रही इतने दिन/।"[3] लेकिन आज स्थिति यह है कि जो भोजन बनाता एवं

1- इस यात्रा में - पृ0 37-38, लीलाधर जगूड़ी

2- प्रगतिशील कविता के मील पत्थर - पृ0 269, सं0 डा0 रणजीत

3- अपनी केवल धार - पृ0 29, अरूण कमल ।

परोसता है, वही भूखा रह रहा है । होटल में सैकड़ों लोगों को भोजन कराने वाले बच्चे भोजन को ललचाई निगाह से देखते हैं और अपनी लाचारी पर रोते हैं । अरुण कमल ने ऐसे बच्चों की व्यथा को अपनी निम्न कविता में चित्रित करके शोषण की स्थिति स्पष्ट की है :

"जैसे ही कौर उठाया/ हाथ रुक गया/ सामने किवाड़ से लगकर/ रो रहा था वह लड़का/ जिसने मेरे सामने/ रखी थी थाली/।"[1]

रमेश रंजक की कविता में शोषण के विरुद्ध विद्रोह का स्वर बड़ा उग्र है । अपनी निम्न कविता में उन्होंने बाजार में वस्तुओं का कृत्रिम अभाव पैदा करके वस्तुओं को महँगा बेच कर धन कमाने वालों पर तीखा प्रहार किया है । देश में फैली इस तरह की कालाबाजारी जनता को चूस कर उसे भुखमरी के कगार पर खड़ा कर देने वाली है :

"इतना सारा गल्ला आया कहाँ गया ?/ खत्ती खाली गोदामों में ताले हैं/ ताले पर चौकीदारों के भाले हैं/ इधर भुखमरी उधर जवानी नहि चढ़ए/। सारी चीजें पहुँचा दी गोदामों में/ ढोंग रचाया फिर तुमने महँगायी का/ और फासला बढ़ा दिया है खाँई का/ रोटी इतनी बिखरा दी है इधर - उधर/ जिसे जुटाने में ही लग जाये दिन भर/।"[2]

ऋतुराज ने अपनी निम्न कविता में रेल की पटरी से कोयला बीनने वाली गरीब नन्ही बच्ची का संघर्ष एवं व्यथा से युक्त जो चित्र खींचा है उसमें कोयला एवं

1- अपनी केवल धार - पृ0 18, अरुण कमल ।

2- प्रगतिशील कविता के मील पत्थर - पृ0 297 सं0, डॉ0 रणजीत

कबाड़ बीनने वाले सारे बच्चों की व्यथामय जीवन गाथा छिपी है । उनकी यह कविता देश की जनतन्त्रात्मक व्यवस्था एवं आर्थिक न्याय को बेपर्दा करती है, जिसकी छाया में बच्चे भी शोषण एवं गरीबी की चक्की में पिस रहे हैं :

"जड़ के अपने इतिहास में/ अंधेरे को लपेटने की कोशिश है/ एक नन्हीं बच्ची/ जो पटरी पर नजर गड़ाये चली जाती है/ इन बच्चों की जड़े जले हुए कोयले में है/ बिखरी गिट्टियों में/ और लोहे के पत्तरों में/।"[1]

साठोत्तरी कविता में शोषण की गतिविधि एवं शोषितों की दयनीय तस्वीर उकेरने के साथ-साथ शोषकों के विरुद्ध संघर्ष का आह्वान भी किया गया है । यह कविता जनता को शोषण का जुआ उतार फेंकने एवं शोषकों की मुट्ठी में कैद अपने हक को छीन लेने के लिए प्रेरित करती है । केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी निम्न कविता में शोषक भूपतियों एवं मिलमालिकों के विरुद्ध शोषित कृषकों एवं श्रमिकों के मन में पनपे विद्रोही भाव को चित्रित किया है । श्रमिकों में यह बोध हो गया है कि हम बहुसंख्यक हैं और संगठित होकर शोषकों को उखाड़ सकते हैं :

"काले कर्मठ कमठ हाड़ के महाशक्ति के विप्लवकारी, कई करोड़ों की संख्या में फौलादी पंजे फैले हैं/ मिल मालिकों से भूपतियों से दल के दल दुष्टों दैत्यों से/ आर्थिक शोषण के गुण्डों से फौलादी पंजे लड़ते है/ x x x x x x x डंका बजा गाँव के भीतर सब चमार हो गये इकट्ठा/ एक उठा बोला दहाड़ कर । हम पचास हैं/ मगर हाथ सौ फौलादी है/ सौ हाथों में एका का बल है/ हम

1- अवेकस - पृ0 33 , ऋतुराज ।

पहाड़ को भी उखाड़ कर रख सकते हैं/ जमींदार यह अन्यायी है/ काम काज सब करवाता है/ पर पैसे देते हैं कम ही/।"[1]

केदारनाथ अग्रवाल ने ईश्वर, भाग्य एवं कर्मफल को नकार कर रोटी प्राप्त करने के लिए शोषकों से सीधे दो-दो हाथ करने की बात कही है :

"रोटी तुमको राम न देगा, वेद तुम्हारा काम न देगा।

जो रोटी के लिए लड़ेगा, वह रोटी को स्वयं वरेगा।"

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को शोषित व्यक्ति का विद्रोही स्वरूप ही रुचिकर है। जब कोई व्यक्ति भूख के खिलाफ लड़ने के लिए खड़ा हो जाता है, तो उन्हें वह सुन्दर दिखाई पड़ता है। उन्हें अस्तित्व के लिए संघर्ष में ही सौन्दर्य का आभास होता है, याचना एवं दयनीयता में कुरूपता दिखाई पड़ती है :

"जब भी/ भूख से लड़ने/ कोई खड़ा हो जाता है/ सुन्दर दीखने लगता है/ झपटता बाज/ फन उठाये सांप/ दो पैरों पर खड़ी/ कांटों से नन्ही पत्तियां खाती बकरी/।"[2]

आर्थिक संकट एवं शोषण से जूझते गरीबों के प्रति सर्वेश्वर दयाल का मन बहुत ही संवेदित है। इस शोषण के वातावरण में उन्हें इंसानियत का दम घुटता हुआ नजर आता है। आदमी चाँद पर भले पहुँच गया हो, लेकिन वह धरती पर इंसानियत को शोषणों से कुचल रहा है। सर्वेश्वर की निम्न कविता में शोषकों पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है :

1- कहें केदार खरी खरी - पृ० 21, केदारनाथ अग्रवाल।

2- जंगल का दर्द - पृ० 35, सर्वेश्वर दयाल।

"इन गरीब धरती के
निहत्थे आदमियों की ओर से कह दो
जब सारे अस्त्र जवाब दे जायें।
तब उस पत्थर से इंसानियत का शिर फोड़े
जिसे वे चाँद से लाये हैं।"[1]

शोषणरत मिलमालिकों की कोठियों का घेराव करने के अतिरिक्त सर्वेश्वर को और कोई रास्ता नहीं दिखायी पड़ता। इसीलिए वे श्रमिकों को संबोधित करते हुए कहते हैं :

"साथियों!
महीनों से आपकी।
पगार रुकी हुई है।
मालिकान दरख्वास्त हजम करते जा रहे हैं
आप फाके पर फाके कर रहे हो
अब उनकी कोठियों का घेराव करने के अलावा और कोई चारा,
नहीं है।"[2]

अपनी 'आहिस्ता मत चलो' कविता में सर्वेश्वर दयाल ने उद्‌बोधनात्मक मुद्रा में बगावत का सन्देश दिया है :

"अनाज से भरी मालगाड़ी
साँप-सी सिगनल पर खड़ी है
उसकी पूँछ पकड़कर जोर से घुमाओ और पटक दो।"[3]

लीलाधर जगूड़ी ने अपनी कविता "बलदेव खटिक" में शोषण एवं भूख से पीड़ित जनता की सहन शीलता को टूटते एवं उसे विद्रोह पर उतारू होते दिखाया है।

1- कुआनो नदी - पृ० 78, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना।

2- जंगल का दर्द - पृ० 17, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना।

3- खूटियों पर टंगे लोग - पृ० 39, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना।

इस कविता का एक पात्र 'रंगतू' शोषित जनता का प्रतिनिधि है । उसके द्वारा कई दिन से भूखे अपने परिवार के भोजन के लिए दूकान का लूटा जाना कोई साधारण बात नहीं है । इस घटना के माध्यम से जगूड़ी शोषित जनता के समक्ष शोषकों के विरुद्ध बगावत का उदाहरण पेश करते हैं :

"जो रंगतू
जो कल राशन लूटने में शरीक था
उसके पास उसके नाम का वारन्ट
उसके परिवार ने रात भरपेट खाया है
भूख भर अन्न के नशे में
अपने देश का एक मामूली घर भी
आरामगाह बना हुआ है ।"[1]

'उदासी के खिलाफ' शीर्षक कविता में जगूड़ी ने 'उदास' यानी शोषितों को शोषकों के विरुद्ध खड़े होने एवं उन्हें नष्ट कर देने के लिए आहूत किया है :

"उदास लोगों !
उठो और न मंजूर करो
उठो और विरोध करो
उठो और चोट करो
उदास लोगों !
उठो और फैसला दो
उठो और जिसने तुम्हें कुचला था
उसे घोड़े की नाल बना दो
उसकी मक्कूल हठवादिता को
उसकी मक्कूल दुर्भावनाओं को
सड़क पर मिला दो ।"[2]

1- बची हुई पृथ्वी - कविता , बलदेव खटिक , जगूड़ी ।
2- रात अभी मौजूद है - पृ0 23 - 24 , जगूड़ी ।

आलोकधन्वा अपनी 'गोलीदागो पोस्टर' कविता में शोषक जमींदारों की जमात पर गोलीदागने के लिए तत्पर नजर आते हैं । कारण, जमींदारों ने उस जमीन को अपनी गिरफ्त में रखा है, जिस पर आम आदमी काम करता है, खेती करता है :

"जिस जमीन पर मैं चलता हूँ
जिस जमीन को मैं जोतता हूँ
जिस जमीन में बीज बोता हूँ और
जिस जमीन से अन्न निकाल कर मैं
गोदामों तक ढोता हूँ
उसजमीन के लिए गोली दागने की समझ मुझमे है या
उन दोगले जमींदारों को जो इस पूरे
देश को सूदखोर का कुत्ता बना चुके हैं ।"[1]

हरिहर द्विवेदी शोषकों के विरुद्ध बगावत करने के लिए मजबूर हैं । आम आदमी का सब कुछ छिन गया है, वह अपनी बदहाली के साथ तनहा बचा हुआ है । उसका धैर्य टूट गया है । विद्रोह ही उसके पास एक रास्ता है आत्मरक्षा का । इसीलिए हरिहर द्विवेदी शोषितों को संगठित करके शोषकों के सीने को चाक कर डालना चाहते हैं :

"हम मजबूर हैं, दुनिया के उन लोगों के साथ एक जुट होने को
जिनका दम इस धरती पर कुछ नहीं रह गया है
हमें माफ करना यदि हमारा गुस्सा
कटार की तरह तुम्हारे सीने को चाक कर डाले
वैसी हालत में मुझे तो कोई दुःख न होगा क्योंकि

1- वाम - 2 - गोलीदागो पोस्टर कविता - आलोकधन्वा ।

तुमने
हमारी नजरों से हमारी शर्म
हमारे सीने से हमारा प्यार
हमारे तन से हमारा मन
हमारे श्रम से हमारा धन
और हमारी धरती से हमारा आकाश छीन लिया है
हम मैदान में खड़े हैं झोपड़ियाँ लपेटे ।"[1]

वेणुगोपाल की कविता में शोषण के विरुद्धप्रेरणा निहित है । वे पूरे देश में बगावत की एक ऐसी आग भड़काना चाहते हैं जिसमें सारे शोषक तमाशबीन जलकर राख हो जायें :

"आखिर माचिस और लकड़ियों का सही उपयोग
क्यों नहीं करते ?
एक जंगली आग
क्यों नहीं भड़काते
कि हाथ सेंकने वाले बचकर न भाग सकें ।"[2]

सामाजिक - सांस्कृतिक रूढ़ियों से टकराहट :-

साठोत्तर कवियों ने व्यक्ति के व्यक्तित्व को दबाने वाली तथा उसके स्वतन्त्र विकास को बाधित करने वाली सामाजिक सांस्कृतिक मान्यताओं पर तीखा प्रहार किया है । इन कवियों की दृष्टि में सामाजिक सांस्कृतिक मान्यतायें उसी सीमा तक स्वीकार्य हैं, जिस सीमा तक वे व्यक्ति को उसकी वैयक्तिकता से दखल नहीं करती । आर्थिक - मानसिक शारीरिक आदि स्तर पर व्यक्ति को शोषित करने

1- हरिहर द्विवेदी - शुरुआत - पृ0 40 , सं0 डॉ0 माहेश्वर ।
2- वे हाथ होते - पृ0 76 , वेणुगोपाल ।

वाले सामाजिक तन्त्र की असलियत को इन कवियों ने भावावेश के धरातल पर नहीं बल्कि तर्क की ठोस भूमि पर जाजाहिर किया है । इन कवियों ने मात्र सडांध से युक्त परम्परागत सामाजिक - सांस्कृतिक मान्यताओं के खिलाफ ही बगावत नहीं की है, बल्कि उस लकदक वाली धनाधारित आधुनिक नगरीय - महानगरीय संस्कृति के खिलाफ भी हल्ला बोला है, जो प्राय: शोषण पर आधारित, यान्त्रिक एवं अनैतिक है, जिसकी दृष्टि में आम मनुष्य की मनुष्य के स्तर पर कोई अहमियत नहीं है तथा जिसने सामान्य व्यक्ति को संत्रास, कुण्ठा, हीनता, अपमान, अवमानना, पीड़ा आदि मनोभावों की भीड़ में जीने के लिए विवश किया है ।

स्वतन्त्रता के बाद भी समाज में बचे सामन्ती अवशेषों पर नागार्जुन ने तीखी चोट की है । अपनी "विजयदशमी के वंशधर" कविता में उन्होंने वैभव प्रदर्शन में निरत शोषक सामन्तों का जो स्वरूप चित्रित किया है वह व्यंग्य से पूर्ण एवं उनके पोल को खोलने वाला है । नागार्जुन अपनी इस कविता के माध्यम से लोगों को यह सोचने के लिए विवश करते हैं कि क्या समाज में इन सामन्ती अवशेषों का जीवित रहना हितकर है ? विजयदशमी के दिन वैभव प्रदर्शन करते हुए सामन्तों का आगे-आगे चलना और हथियार लिये हुए किसान-मजदूरों द्वारा जय-जयकार करते हुए उनका अनुकरण किया जाना प्रजातान्त्रिक अवधारणा के बिलकुल विपरीत है :

गुलाबी धोती
सोने के बटनों वाला रेशमी कुर्ता
मलमल की दुपलिया, फूलदार टोपी
बाटा के पम्प शू
नेवले के मुँह-सी मूठ की नफीस छड़ी - - - - -
बड़ा और छोटा सरकार
लाल साहेब, हीरा जी

मान्कि जी, मोती साहब
बुच्चन जी, बबुअन जी
नूनू जी, बचोल बाबू
हवेली से निकले बनकर सँवर कर ।"[1]

त्रिलोचन ने समाज में विद्यमान सामन्ती अवशेषों को पुराने विश्व का पुराना पाप कहा है । उनका सोचना है कि इस पाप यानी सामन्ती अवशेष के विद्यमान रहते हुए शोषण विहीन भारत एवं शोषण विहीन संसार की संरचना सम्भव नहीं है :

"नये विश्व की रचना हमको ही करनी है
इस पुराने विश्व के पुराने पाप
जीवन के पुण्य खाये जा रहे हैं
जीवन का त्रास हटे ऐसी जुगत करनी है
फिर अपने भारत की खोज में
अपना बेड़ा लेकर पहुँचेंगे किसी जगह नये लोग
कोलंबस वही है ।"[2]

केदारनाथ अग्रवाल ने सामन्ती व्यवस्था एवं सामन्ती सोच को जीर्ण-शीर्ण एवं मौत के मुह की चीज कहा है । इस प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में उसे जिन्दा रहने का कोई हक नहीं है :

"आज सामन्ती पुरानी हो गयी है
मौत के मुँह की कहानी हो गयी है
जो भलाई थी बुराई हो गयी है ।"[3]

1- तालाब की मछलियाँ - कविता-विजयादशमी के वंशधर , नागार्जुन ।
2- तुम्हें सौंपता हूँ - पृ0 42 , त्रिलोचन शास्त्री ।
3- कहे केदार खरी-खरी - पृ0 195 , केदारनाथ अग्रवाल ।

उदय प्रकाश ने अपनी कविता "मालिक आप नाहक नाराज हैं" में सामन्ती सोच वाले लोगों को आड़े हाथ लिया है। उन्होंने नौकर द्वारा संवाद शैली में मालिकों के आततायी कृत्यों का खुलासा करवाया है। इस कविता में 'मालिक' को बार-बार यह बोध कराने की कोशिश की गयी है वह अपने नौकरों पर ही अत्याचार कर सकता है, प्राकृतिक उपादानों पर नहीं :

"मालिक, आखिर हवा तो आप के कहने से नहीं चलती
धूप का क्या करेंगे आप जो गिरेगी ही
आप की बरौनियों में
आप के ऊपर चढ़कर फुदकेंगी ही
रोशनी की नटखट चौकन्नी गिलहरियाँ
x x x x x x मैं ठीक कह रहा हूँ मालिक
आप नाहक नाराज हैं
भूल जाइये बिल्कुल उन चीजों को
जिन पर हुक्म नहीं चलता आपका
आखिर हवा किसमिया कहारिन तो है नहीं मालिक
जो कराहती हुई चौका बर्तन करे आप का
बाल्टी भर-भर पानी छत तक चढ़ाये
दो घण्टे छोटे बाबू को बहलाये
और फिर आपका
बिछौना बिछाये
आखिर धूप सुरजा तो है नहीं मालिक

जिसकी कमीज आप गुस्से से फाड़ दें और

जिसकी काली पीठ पर

अपनी चिलमची के गुल झाड़ दें

धूप सुरजा नहीं है मालिक

जिसे आप अपनी बैठकी में उकडू बैठाकर

गरियाते रहें

और पीटते रहें ।"[1]

नारी शोषण के विरुद्ध भी साठोत्तरी कविता का स्वर काफी प्रखर है । इस दौर के कवि नारी मुक्ति के पोषक हैं । वे नारियों पर हो रहे अत्याचारों से भली - भाँति परिचित हैं । उनके मन में नारियों के प्रति एक सघन संवेदना तथा उन्हें पीड़ित करने वाली शक्तियों के विरुद्ध एक प्रबल चेतना निहित है । नागार्जुन ने "तालाब की मछलियाँ" शीर्षक कविता में मछली एवं नारी की स्थिति को समान बताया है । कड़ाही में तली जाती हुई मछली तलने वाली से कहती है - "हम भी मछली । तुम भी मछली । दोनों उपभोग की वस्तु हैं ।" लेकिन दोनों में अन्तर यह है कि बाढ़ के समय मछलियाँ 'तालाब' से मुक्त होकर नदी में चली जाती हैं जबकि नारी सदैव दीवारों के अन्दर कैद रहती है । इस कविता में नागार्जुन के कहने का तात्पर्य यह है कि बाढ़, विप्लव यानी क्रान्ति जैसी स्थिति ही नारी को मुक्ति दिला सकती है ।

नागार्जुन ने पुरुष प्रधान समाज द्वारा शोषित पौराणिक नारियों के चित्रण के माध्यम से नारी शोषण की दीर्घ परम्परा के विरुद्ध विचार व्यक्त किया है ।

1- प्रगतिशील कविता के मील पत्थर - पृ0 310, सं0 डॉ0 रणजीत ।

चाहे अहल्या हो, चाहे रेणुका या शकुन्तला, सबको पुरुष प्रधान समाज ने पीड़ित किया है । कवि के शब्दों में -

(क) नाहक ही
उतना ही अधिक रूप दिया
विधाता ने गौतम की शकल बना के
सचमुच क्या इन्द्र ही आया था ?
समान आकृति वाले -
दो पुरुषों की छाया में पथरा गयी बेचारी ।"[1] (अहल्या)

(ख) शक्की और सनकी पति देव - - - -
पितृ भक्त सहज क्रोधी पुत्र - - - - -
शहीद हुई रेणुका बेचारी सच-सच बोल के
क्या किया था उसने ?
तलइया में देखती रही थी
मछलियों के कामातुर जोड़े
लौटने में हो गया था विलम्ब
तो, हम क्या देखते नहीं है
यहाँ - वहाँ
मछलियों के कामातुर जोड़े ।"[2] 'रेणुका'

(ग) अँगूठी ?
सोने की अँगूठी
क्या हुआ लेकर सोने की अँगूठी -
प्रीति का प्रतीक !
मूर्ख थी शकुन्तला

1- प्यासी पथराई आँखें - पृ० 62 , नागार्जुन
2- - वही - पृ० 68

महर्षि की पालतू लड़की
शौहदे की अँगूठी पर किया था भरोसा।"[1] 'शकुन्तला'

केदारनाथ अग्रवाल ने नारीजीवन की पीड़ा एवं विवशता का बड़ा यथार्थ चित्रण अपनी निम्न कविता में किया है। इस कविता में कवि अपनी समग्र संवेदना के साथ नारी समुदाय के पक्ष में खड़ा हुआ दिखायी पड़ता है। नारी जीवन की विसंगतियों के लिए उत्तरदायी पुरुष प्रधान समाज की क्रूरता पर बड़ी सीधी चोट इस कविता के माध्यम से की गयी है :

"घर की घुटन में पड़ी औरतें
जिन्दगी काटती हैं
मर्द की मुहब्बत में मिला
काल का काला नमक चाटती हैं
जीती जरूर हैं
जीना नहीं जानती
मात खाती
मात देना नहीं जानती।"

समाज ने नारी-जीवन को 'नरक' बना दिया है। घर के अन्दर कैद रहना तथा सन्तान पैदा करना एवं उसे पालना ही मानो उसकी जिन्दगी है। पुरुष उसे विचार एवं भावना से शून्य समझता है तथा उसे भोजन, वस्त्र, आभूषण देकर उसका उपभोग करता है। रघुवीर सहाय व्यंग्यात्मक ढंग से कहते हैं :

1- प्यासी पथराई आँखें - पृ0 64

"घर में सब कुछ है जो औरत को चाहिए
सीलन भी और अन्दर की कोठरी में पाँच सेर सोना भी
और सन्तान भी जिसका जिगर बढ़ गया है
जिसे मासिक पत्रिकाओं पर हगाया करती है ।"[1]

धूमिल ने अपनी 'कविता' शीर्षक कविता में 'प्रेम' की आड़ में किये जाने वाले नारी-शोषण की ओर संकेत किया है । आज के पूँजीवादी समाज में पनपे 'प्रयोग करो और फेंक दो' - के चिन्तन ने प्रेम का जो रूप प्रस्तुत किया है, उसमें एकनिष्ठता नहीं है । यही कारण है कि आज 'प्यार' और 'मकान की तलाश' में कोई अन्तर नहीं है । लोग प्यार या प्रेम के नाम पर अपनाई गई स्त्री को मकान की तरह बदल देते हैं और उसका शोषण करके उसे एक ऐसी स्थिति में ला देते हैं कि वह धर्मशाला बनने के लिए विवश हो जाती है :

"एक सम्पूर्ण स्त्री होने के पहले ही
गर्भाधान की क्रिया से गुजरते हुए
उसने जाना की प्यार
घनी आबादी वालीबस्तियों में
मकानकी तलाश है
लगातार बारिश में भीगते हुए उसने जाना कि हर लड़की
तीसरे गर्भपात के बाद धर्मशाला हो जाती है ।"[2]

'बुआ के लिए' शीर्षक कविता में गोरख पाण्डेय ने स्त्री के वैधव्य जीवन की उस दयनीयता की ओर संकेत किया है जो पुरुष प्रधान समाज की नारी विषयक दृष्टि का परिणाम है । यह कैसी विडम्बना है कि एक ही समाज में नारी का

1- आत्म हत्या के विरुद्ध - पृ0 43 , रघुवीर सहाय ।

2- संसद से सड़क तक - पृ0 7, कविता , धूमिल ।

वैधव्य जीवन तो निन्दनीय है लेकिन पुरूष का विधुर जीवन नहीं :

"वह विधवा है
सनातन धर्म का एक अभिशाप
जिन्दा होकर भी जो
मौत की परछाई की तरह रहेगी
एक एक पैसा जोड़ कर रखती
और हमारी पढाई और कमीज पर
खर्च करती ।"[1]

साठोत्तर कवियों ने यदि समाज की किसी मान्यता पर सबसे तीखा प्रहार किया है, तो वह है विवाह संस्कार एवं यौन सम्बन्ध । विवाह के द्वारा स्त्री एवं पुरूष के मध्य स्थापित होने वाले दाम्पत्य सम्बन्ध की पारम्परिक अवधारणा, जिसमें पत्नी का दर्जा पति से निम्न होता है - को नकार कर इन कवियों ने दोनों के मध्य समता पर आधारित मैत्री सम्बन्ध को स्वीकार किया है । श्रीकान्त वर्मा के शब्दों में -

"मेरा विवाह
किसी स्त्री से नहीं बल्कि हुआ था जमाने की पसंद से
पत्नी मिली है दहेज में
अनुभव करता हूं अपने को पुरूष
केवल एक बार सेज पर ।"[2]

इस दौर की कविता में स्त्री - पुरूष के यौन सम्बन्धों का चित्रण बिना किसी दुराव छिपाव के हुआ है । यौन सम्बन्धों की वैवाहिक सीमा को अस्वीकार

1- जागते रहो सोने वालों - पृ0 35 , गोरख पाण्डेय ।

2- माया दर्पण - पृ0 25 , श्रीकान्त वर्मा ।

करते हुए कवियों ने उन्मुक्त यौन सम्बन्धों पर बल दिया है । उन्होंने यौन सम्बन्धों को सीमित करने वाली सारी नैतिकताओं को ध्वस्त कर दिया है । इन कवियों का यौन विद्रोह सारी वर्जनाओं को तोड़कर कहीं भी यौन सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्वतन्त्र होने की सोच का हामी है । यौन विद्रोह के बारे में श्याम परमार ने लिखा है - "सेक्स-अनुभूति झिझक एवं झेंप से अलग हो गयी है, बल्कि वह इतनी उघड़ गयी है, स्वीकृत मान्यताओं के नाते इतनी अपराधी हो गयी कि उसमें उसका स्निग्ध पक्ष सदा के लिए समाप्त हो गया । कामुक विह्वलता, तीखे व्यंग्य एवं अतर्क विडम्बनाओं में बदल गयी ।"[1] यौन स्वच्छन्दता का बड़ा तीखा भाव श्रीकान्त वर्मा की निम्न कविता में उपस्थित है :

"मुझे अभी कई लड़कियों से
करना है प्रेम
मुझे अभी कई
कुण्डों में
करना है स्नान
अभी कई तहखानों की
करनी है सैर ।"[2]

साठोत्तर कवियों को स्वच्छन्द प्रणय में बाधक सामाजिक मान्यताएँ एवं मर्यादायें बहुत अखरती हैं । वे उनके मन में पीड़ामिश्रित आक्रोश उत्पन्न करती हैं । उनकी समझ में प्रणय सम्बन्ध एक जैविक आवश्यकता है उसमें किसी तरह का अवरोध नहीं होना चाहिए । तरुण सोलंकी के शब्दों में -

---

1- अकविता और कला सन्दर्भ - पृ0 15, श्याम परमार ।

2- माया दर्पण - पृ0 4 , श्रीकान्त वर्मा ।

मैं और तुम सरिता के दो कूल
बरसों से खड़े एक दूसरे के समक्ष
नेत्रों में लिये मूक आमन्त्रण कि हा !
यह मर्यादाओं का निष्ठुर जल
हमारे मध्य का अन्तराल बनाये हुए है ।"[1]

साठोत्तर कवियों का यौन विद्रोह कहीं - कहीं अतिवादिता का शिकार भी है । उन्मुक्त यौन सम्बन्धों की उनकी उद्दाम कामना व्यक्ति को यौन सम्बन्ध की दृष्टि में पशु के स्तर पर ला खड़ा करती है । इन कवियों ने यौन स्वच्छन्दता की भावना से प्रेरित होकर यौन प्रतीकों एवं यौन बिम्बों का खुला प्रयोग किया है । ये प्रतीक एवं बिम्ब कविता में हर स्थान पर विचारों की सशक्त अभिव्यक्ति के साधन के रूप में सिद्ध नहीं हुए हैं । प्राय: ये कवियों की कुण्ठा के रूप में सामने आये हैं । इनके अनर्गल प्रयोग के चलते कविता काफी कुरूप एवं वीभत्स हो गयी है ।

साठोत्तरी कविता में धर्म एवं ईश्वर विषयक परम्परागत अंध मान्यताओं को अस्वीकार किया गया है । कवियों ने धर्म एवं ईश्वर को तर्क की कसौटी पर कसना चाहा है और ऐसा करने पर इन दोनों की निरर्थकता ही उनके सामने आयी है । केदारनाथ अग्रवाल ने अपनी "चित्रकूट के बौड़म यात्री" नामक कविता में धर्मार्थ तीर्थ यात्रा पर जाने वाले ढोंगियों एवं लंपटों पर तीखा व्यंग्य किया है :

"चित्रकूट के बौड़म यात्री
सतुआ गुड़ गठरी में बाँधे
गठरी को लाठी पर साधे
लाठी को कंधे पर टाँगे
दिन भर अधरम करने वाले

1- नवनीत - अप्रैल 1978 , पृ0 52, तरूण सोलंकी ।

परनारी को ठगने वाले
पर सम्पत्ति को हरने वाले
भीषण हत्या करने वाले
धर्म लूटने के अधिकारी
टोली की टोली में निकले
जैसे गुड़ के लोभी चींटे
लम्बी एक कतार बना के
अपने-अपने बिल से निकले
बंडी काली तेलही पनहे
धोती ओछी गन्दी पहने
गन्दे जीवन के अधिकारी
स्वर्ग पहुंचने की इच्छा से लम्बे-लम्बे कदमें भरते ।"

नागार्जुन ने धार्मिक अनुष्ठानों के प्रमुख आधार मंत्र को अस्वीकार करते हुए ईश्वरीय आराधना पर व्यंग्य किया है । उनके शब्दों में -

"ओं सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ
नही, कुछ नहीं, कुछ नहीं
ओं पत्थर पर की दूब, खरगोश की सींग
ओं नमक-तेल-हल्दी-जीरा-हींग
ओर मूस की लेड़ी, कनेर के पात
ओं डायन की चीख, औघड़ की अटपट बात
ओं कोयला-इस्पात-पेट्रोल
ओं हमी हम ठोस बाकी सब फूटे ढोल ।"[1]

1- प्रगतिशील कविता के मील पत्थर - पृ0 47, डॉ0 रणजीत ।

केदार नाथ अग्रवाल ने ईश्वर की श्रेष्ठता और उसके संसार के स्रष्टा होने की धारणा को नकार दिया है । उनका मानना है कि मनुष्य को ईश्वर ने नहीं बल्कि ईश्वर को मनुष्य ने जन्म दिया है :

"ईश्वर को आदमी ने जन्म दिया है
ईश्वर को मतलब क्या आदमी के जन्म से
ईश्वर तो बाद को आया है
आदमी ने उसको तो
केवल कौतूहल से
भावना के पिण्ड से रचा है
आदमी ने ईश्वर को रूप दिया
आदमी ने ईश्वर को बड़ा किया
आदमी ने ईश्वर को शक्ति दिया
आदमी ने ईश्वर को ज्योति दिया
आदमी ने ईश्वर को कोष दिया
आदमी ने ईश्वर को आयु दिया
आदमी ने ईश्वर को भाव दिया
आदमी ने ईश्वर को शब्द दिया
आदमी ने ईश्वर को अपना सर्वस्व दिया
ईश्वर ने आदमी को नहीं दिया एक वस्तु
आदमी का प्यारा पुत्र ईश्वर है
ईश्वर का पुत्र नहीं आदमी है ।"

जगदीश चतुर्वेदी ने अपनी निम्न कविता में ईश्वर के प्रति अपना अविश्वास व्यक्त किया है । उन्होंने सम्भोग सुख को ही ईश्वरीय सुख माना है । उनकी आस्तिकता ईश्वर विषयक विश्वास पर आधारित न होकर सम्भोग-सुख की सच्चाई

पर आलम्बित है :

"ईश्वर पर मुझे विश्वास नहीं
पर हर स्त्री के साथ सोते समय मुझे ईश्वरीय सुख की अनुभूति होती है
मैं आस्तिक होता जा रहा हूँ ।"[1]

लीलाधर जगूड़ी ईश्वर की सत्ता को तर्काधारित एवं यथार्थ की ठोस भूमि पर स्थित नहीं मानते । उनका मानना है कि ईश्वर की सत्ता मनुष्य भय के कारण मानता है । परम्परा एवं समाज ने उसके मन में अनेक प्रकार का भय भर दिया है, जिसके कारण वह ईश्वर को मानने के लिए विवश है :

है ईश्वर तू चिन्ता न कर
तू तो रहेगा ही रहेगा
क्योंकि मेरे डर तुझको बनाये रखेंगे अमर ।[2]

जगूड़ी ने "ईश्वर और आदमी की बात-चीत" कविता में ईश्वर की मूर्ति की पूजा और व्रत पर व्यंग्य करते हुए मनुष्य को ईश्वर से ज्यादा उत्कृष्ट बताया है :

"जानते हो यह मूर्ति मेरी है
और कुछ लोग इसे पूजने आ रहे हैं
तुम्हें क्या चाहिए ?
क्या तुम्हारा भी व्रत है ?
नहीं-नहीं यह मूर्ति मेरी है
और यह बिक चुकी है
खुद को तो मैं तुमसे ज्यादा जानता हूँ
संयोग से जो पाँचवी योजना में नहीं है

1- विजय - पृ० 70, जगदीश चतुर्वेदी ।
2- घबराये हुए शब्द - पृ० 18, लीलाधर जगूड़ी ।

वह तुम कैसे दे सकते हो ?

- - - - - - - - -

प्रश्न केवल मूर्ति का नहीं
मेरे घर का भी सवाल है
बताओ कि मैं कहाँ निवास करूँ ?
तुम किताबों से उठ कर बार-बार यहाँ क्यों चले आते हो ?
हमने तुम्हे कलेण्डरों पर दे दिया है
जाओ जूते और घड़ियों के उपर रहो
आदमियों के उपर इस वक्त खतरा है ।"[1]

राजकमल चौधरी ने अपनी कविता 'मुक्ति प्रसंग' में ईश्वर सम्बन्धी धारणा - ब्रह्म सत्यं - पर आघात करते हुए उसे {ईश्वर को} नकली एवं नकाबपोश कहा है :

"मेरे फेफड़े के अन्दर मलत्याग की वैष्णवी मुद्रा में बैठा हुआ
नकाबपोश नकली ईश्वर देखता रहा है मेरी स्त्री का अवरुद्ध -
गर्भ विवर ।"[2]

पंकज सिंह ने 'चलो उस तरफ' शीर्षक कविता में ईश्वर को मनुष्य की विकसित वैचारिकता की देन न मानकर उसकी आदिम चेतना की उपज माना है :

"यह कौन सा ईश्वर है
तुम्हारी आदिम याद में कुण्डली मारे
तुम्हारे खून में जहर सा दौड़ता
जो तुम्हे उसी मडराते भय की छाया में
समेट लेता है

1- रात अभी मौजूद है - पृ0 65, लीलाधर जगूड़ी

2- मुक्ति प्रसंग - पृ0 12, राजकमल चौधरी ।

इन सबको
तुम्हारे हुलास में सने हाथों की
एक दमदार चोट
दरकार है ।"

साठोत्तरी कविता में, नगरीय संस्कृति की यान्त्रिकता, संवेदनहीनता संबन्धहीनता एवं शोषक प्रवृत्ति का यथार्थ बिम्ब दिखायी पड़ता है । इस दौर के कवियों को नगरीय संस्कृति का यह वर्तमान स्वरूप खटकता है । यही कारण है कि उनकी कविता में इसके विरुद्ध नकारात्मक रुख विद्यमान है । कुमार विकल ने अपनी "एक सामरिक चुप" कविता में कलकत्ता महानगर के माध्यम से नगरीय संस्कृति के वनतंत्री स्वरूप के बारे में जो कुछ लिखा है उसमें उनका उसके प्रति विद्रोहात्मक या निषेधात्मक चिन्तन ही दिखायी पड़ता है । उनकी इस कविता में नगर की अराजकता के उपर चोट की गयी है, जो आम आदमी को कुचल रही है :

"कलकत्ता अब सिर्फ एक शहर का नाम नही
एक व्यवस्था का प्रतीक है
जिसे वनतंत्र कहते हैं
और जिसकी हिफाजत के लिए आदमीनुमा दरिन्दे दनदनाते हैं
नही मैं कलकत्ता नहीं जाऊँगा
नहीं देखूँगा किस तरह आदमी
एक आतंक से दूसरे आतंक तक जीता है
पीठ पर लाठियाँ खाता है
आँखों से अश्रु गैस पीता है
नहीं देखूँगा किस तरह
झूठी मुठभेड़ों के नाम पर
नौजवानों की हत्यायें होती हैं

और घरों में इन्तजार कर रही माएँ
आँसू सूख जाने के बावजूद रोती हैं ।"[1]

रघुवीर सहाय को नगरों, महानगरों में विश्वास एवं सहजता का वातावरण नहीं दिखाई पड़ता । उन्हें यहाँ हर जगह चालाकी एवं धोखा का माहौल दृष्टिगत होता है, जिसमें एक सच्चे आदमी का जीना कठिन है :

"इस विराट नगरी में, बड़े - बड़े धोखे हैं ।
गुर्राते हुए बाजों में और कुलबुलाते हुए मसौदों में
और छोटे-छोटे धोखे फूलदानों में हैं
न छोटे न बड़े सौदों में नौकरियों के ।"[2]

महानगरों एवं नगरों में यन्त्रणाओं का ऐसा जाल बिछा है, जिससे मुक्ति पाना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है । वह उसी में फँसा हुआ किसी तरह जीवन बिता दे यह अलग बात है । जीवन की एकरसता, सम्बन्धहीनता, अकेलापन एवं घोर स्वार्थपरता के माहौल में यहाँ जीना व्यक्ति की विवशता हो गयी है :

"रोज के एक रस जीवन से ऊबा महानगर
वही बसें, वही ट्रामें, स्कूटर और रिक्शे
कितना याद आता है छोटा सा गाँव
महानगर में अकेलापन गहरी ऊब दे जाता है
मृत्यु जैसी खामोशी
यहाँ कोई किसी का दोस्त नहीं, परिचित नहीं
वहाँ तो सभी चेहरे बिखरे हैं स्वार्थों में
लोग उड़ाते हैं एक दूसरे का मजाक

1- प्रगतिशील कविता के मील पत्थर - पृ0 280 , सं0 डॉ0 रणजीत
2- आत्महत्या के विरुद्ध - पृ0 32, रघुवीर सहाय ।

बौद्धिकता की सीमाएं ज्यादा बोलने में है
हर आदमी शैतान नजर आता है ।"[1]

नगरों - महानगरों का जीवन पूर्णत: यान्त्रिक एवं औपचारिक है । वहाँ न सम्बन्धों में गम्भीरता है और न व्यवहार में सरसता । सारे व्यवहार कामचलाऊ एवं आडम्बर से भरपूर हैं । बाहर से प्रिय दिखने वाला व्यक्ति अन्दर से कटु है । जगदीश चतुर्वेदी की निम्न कविता भव्य दिखने वाले नगरीय जीवन का पोल खोलती है :

हम सब कितने औपचारिक ढंग से मिलते हैं
अपनी पत्नी से, अपनी प्रेमिका से
अपने दोस्तों से, अपने अधिकारी से
खीसें निपोर कर, गला दबा कर
बनाई गयी आवाज में
हम सब बहुत-बहुत खीझे रहते हैं
अपने पड़ोसी के व्यवहार से ।"[2]

"अनिश्चित तिथियों में जीते हैं सभी लोग
साथियों को देते हैं चुपचाप गालियाँ ।"[3]

बढ़ती जनसंख्या, एवं रोजगार की तलाश में भटकते लोगों के कारण नगर महानगर भीड़ में बदल गये हैं । व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं रह गया है कि वह अपने को भीड़ की अव्यवस्था की चपेट से बचा सके । रघुवीर सहाय के शब्दों में-

---

1- जगदीश चतुर्वेदी - विजय , पृ0 77 ।
2- - वही - पृ0 57 ।
3- - वही - पृ0 64 ।

"बच्चा गोद में लिए
चलती बस में
चढ़ती स्त्री
और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ ।"[1]

इस महानगरीय भीड़ में मैलखोरी गंध है, आदिम मूर्खता की दुर्गन्ध है । यत्न पूर्वक खोजने पर भी इसमें मानवता की गन्ध का आभास नहीं होता । इस भीड़ में व्यक्ति का अस्तित्व खोगया है । अपने को पहचान पाना उसके लिए कठिन है :

"भीड़ में मैलखोरी गन्ध मिली
भीड़ में आदिम मूर्खता की गन्ध मिली
भीड़ में मुझे नहीं मिली मेरी गंध
जब मैं साँस भर उसे सूँघा ।"[2]

साठोत्तरी कविता ने भारतीय जनतन्त्र की छत्रछाया में पनपे शोषण, आर्थिक वैषम्य एवं गरीबी की सच्चाई को बेनकाब करके देश की अर्थनीति पर प्रश्न - चिन्ह लगाते हुए भी एक प्रकार से स्वदेशी सत्ता एवं राजनीति को ही आड़े हाथ लिया है । इस कविता में देश के जनविरोधी अर्थतन्त्र को ध्वस्त कर देने की चेतना काफी प्रबल है ।

साठोत्तरी कविता को विद्रोही दृष्टि से समाज एवं संस्कृति की जनविरोधी मान्यताओं तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं उसकी स्वतन्त्रता को अवरुद्ध करने वाली

1- आत्महत्या के विरुद्ध - पृ0 39 , रघुवीर सहाय ।

2- - वही - पृ0 50 ,

खोखली मर्यादायें भी नहीं बच पायी हैं । इसने समाज में विद्यमान सामन्ती अवशेषों, नारी शोषण, धर्म एवं ईश्वर सम्बन्धी अंध अवधारणाओं, प्रेम एवं यौन सम्बन्धों की पारम्परिक मान्यताओं, नगर की यान्त्रिक संस्कृति आदि सबके विरुद्ध आवाज उठाई है । इस दौर की कवियों का यह सारा विद्रोह भावावेश से प्रेरित नहीं, बल्कि आज की परिस्थितियों से मेल खाने वाली तार्किकता के ठोस धरातल पर आधारित है । हाँ, यह बात जरूर है कि प्रेम एवं यौन सम्बन्धों की पारम्परिक मान्यताओं के विरुद्ध इस कविता का विद्रोह कहीं - कहीं अतिवादिता एवं उच्छृंखलता से युक्त हो गया है ।

अध्याय - छः

साठोत्तरी कविता : अभिव्यक्ति के नये आयाम

जब साहित्यकार का मन विसंगतियों से मुक्त, विडम्बनाओं से असम्पृक्त एवं व्यथाओं से रहित होता है, तभी वह साहित्य के शास्त्रीय मानदण्डों को मानता हुआ, बिम्ब विधान, अलंकार-निरूपण, भाषिक चमत्कार एवं कल्पना की उड़ान में मन लगाता है । लेकिन विविध विसंगतियों से युक्त समाज में जीने वाले एवं उन विसंगतियों को व्यक्तिगत स्तर पर भोगने वाले साहित्यकर्मी से ऐसी आशा नहीं की जा सकती है । वह जिस प्रकार विसंगतियों को जन्म देने वाली व्यवस्था के प्रति विद्रोह करता है और उसके शासन को अस्वीकारता है, ठीक उसी प्रकार वह पारम्परिक साहित्यानुशासनों एवं मानदण्डों को तोड़ता हुआ अपनी अभिव्यक्ति के लिए नया आयाम रचता है । क्योंकि काव्य के पारम्परिक प्रतिमान उसकी अनुभूति की अभिव्यंजना में बाधक होते हैं; जबकि अभिव्यक्ति का माध्यम अनुभूति के अनुकूल होना चाहिए । यही कारण है कि "जिस प्रकार पाँचवें दशक के उत्तरार्द्ध में भारतीय मानस, विक्षुब्ध एवं एकांगी राजनीति के रवैये से कतरा रहा था, उसी प्रकार रचनाधर्मी जनजीवन के बीहड़ मोर्चे पर पर्दा डालने वाले काव्यतत्वों के प्रयोग से विचलित हो रहा था ।"[1]

साठोत्तरी कविता में अपनी पूर्ववर्ती काव्य व्यवस्था के प्रति जो अस्वीकार या विद्रोह दिखायी पड़ता है, वह राजनैतिक सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के प्रति अपने विद्रोह एवं जनवादी दृष्टिकोण को व्यक्त करने के उचित माध्यम की खोज का

1- समकालीन हिन्दी कविता में जनवादी चेतना - पृ0 263, डॉ0 नकछेद ।

परिणाम है । बिना कलागत आभिजात्य को तोड़े उसका व्यवस्था के प्रति विद्रोह पूरी मुखरता एवं इमानदारी के साथ प्रकट नहीं हो सकता था । डॉ0 नकछेद के शब्दों में - " जनजीवन की प्रामाणिक संवेदना के अभाव में काव्यबोध के ग्राह्य उपकरण - कल्पना, विम्ब, प्रतीक, रस, छन्द-टूटने लगे । क्योंकि 1960 के आस - पास तक कविता शब्दजाल विशेषण एवं आलंकारिक घटाटोप से जीने की प्रक्रिया - - - - - - - को नकार चुकी थी । फलस्वरूप राजनीतिक दबाव से चरमराने वाली सामाजिक, आर्थिक, एवं धार्मिक तथा सांस्कृतिक, गतिविधियों ने कविता के वस्तु और रूप को बदलने की दिशा दी । मानव-जीवन की ऊब और व्यर्थता-बोध के कारण काव्यात्मक तत्त्व विचलित और विघटित होने लगे अर्थात मानवीय तत्त्वों के विघटन ने काव्यतत्त्वों के विघटन के लिए कवि को लाचार कर दिया । - - - - - कविता का पारम्परिक ढाँचा एवं उसका आन्तरिक अनुशासन जीवन-विसंगति एवं विद्रूपता के कारण छटपटाने लगा, जिससे कविता की भाषिक एवं शैल्पिक बनावट टूट गयी । - - - - - - - - आदमी के सही चेहरे की तलाश में कविता में बदलाव आया ।"[1] सारे काव्य प्रतिमानों की पारम्परिक उपयोगिता समाप्त हो गयी । भाषा, प्रतीक, विम्ब, काव्यरूप आदि सब के प्रति कवियों कानजरिया बदल गया ।

§1§ <u>भाषा की सजावट के प्रति अन्यमनस्कता :-</u> मानव की सबसे प्रथम महत्त्वपूर्ण खोज भाषा है । उसके विकास के वर्तमान पड़ाव तक पहुँचने और अगले पड़ाव की ओर अग्रसर होने में भाषा का आधारभूत योगदान रहा है । विचार भाषा में ही उत्पन्न होते हैं और भाषा द्वारा ही संचारित होते हैं । मनुष्य के विचार ही

1- समकालीन हिन्दी कविता में जनवादी चेतना - पृ0 264, डॉ0 नकछेद ।

उसकी क्रियाओं में प्रतिफलित होते हैं । संसार में विद्यमान मानव का सम्पूर्ण कृतित्व उसके विचारों का ही मूर्तरूप है । रिचर्ड्स ने भाषा के दो प्रयोग निर्धारित किये हैं - §1§ तथ्यात्मक §2§ रागात्मक ।[1] कविता में भाषा का रागात्मक प्रयोग होता है । उसकी पहचान भाषा की पहचान से भिन्न नहीं है । क्योंकि काव्य के जो गुण बताये जा सकते हैं, अन्ततोगत्वा भाषा के ही गुण है ।"[2] भाषा में लय, तुक, छन्द, अलंकार, रस आदि का समावेश करके काव्य भाषा के निर्माण की परम्परा रही है । लेकिन काव्य भाषा का यह पारम्परिक अभिजात्य रूप साठोत्तर कवियों ने स्वीकार नहीं किया है । क्योंकि उनके मन में, परिवेश की जटिलताओं के कारण विद्रोह, आक्रोश, कुण्ठा, संत्रास , तनाव, ऊब, व्यर्थता, संघर्षशीलता आदि का जो भाव विद्यमान है, अलंकारादि के घटाटोप से युक्त, दुर्बोध एवं कोमल भाषा उसके अनुकूल नहीं है ।

साठोत्तर कवियों ने काव्य भाषा को आडम्बर एवं आवरण से मुक्त करके उसका बिल्कुल नंगा एवं स्वाभाविक रूप प्रस्तुत किया है । इससे भाषा में पारदर्शिता आयी है और कविता के माध्यम से परिवेश की जटिलता को पूरी सच्चाई से कहना एवं समझना सम्भव हो सका है । "ताजी कविता जिस भाषा की खोज में है वह नंगी भाषा है - आवरणहीन - संस्कारहीन, सज्जाहीन और इन सबसे अधिक एक ऐसा नंगापन जिसमें आभिजात्य जंगलीपन के उपर एक समयबोध की छाप लगा सके ।"[3] डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी का काव्यभाषा विषयक मत -

---

1- पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त - पृ0 202, शान्ति स्वरूप गुप्त
2- रघुवीर सहाय की काव्य पुस्तक -"सीढ़ियों पर धूप में" की भूमिका - अज्ञेय ।
3- क ख ग 9 पृ0 57 , लक्ष्मीकान्त वर्मा ।

"काव्य भाषा वह है, जो काव्य के परम्परागत भेदक लक्षण, तुक, छन्द, अलंकार,लय रस आदि के विलुप्त हो जाने के बाद शेष रह जाती है।"[1] साठोत्तर काव्यभाषा के स्वरूप के अनुकूल है । निम्न साठोत्तरी कविताओं में हम उसमें प्रयुक्त काव्य-भाषा का पारदर्शी एवं नग्न रूप देख सकते हैं, जो "काव्य के परम्परागत भेदक लक्षणों "से रहित तथा अनगढ़ एवं सज्जाहीन होते हुए भी आकर्षक एवं सब कुछ कह देने में सक्षम हैं :

"महापुरुष की धोती का
एक छोर
नगर सेठ की तिजोरी में है
दूसरा संसद की कुर्सी में ।"[2]

"सरकार का कहना है
कारखाने में गोली चली उसमें
ट्रेड यूनियन का हाथ है
मारे गये मुसहर, उसमें भी
किसान सभाओं का हाथ है
विद्यार्थियों के हंगामों में
छात्र संगठनों का हाथ है
और राज्य में जो भी गड़बड़ी है
सबमें कम्युनिस्टों का हाथ है
हुजूर ने ठीक फरमाया
इस दुनिया के पीछे भी ईश्वर का हाथ है ।"[3]

1- भाषा और संवेदना - पृ0 32, डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ।
2- सुनो कारीगर - पृ0 61, उदय प्रकाश ।
3- अपनी केवल धार - पृ0 29, अरुण कमल ।

सन् 1960 के बाद की कविता की भाषा में समाज में अश्लील समझे जाने वाले शब्दों का प्रयोग काफी व्यापक रूप में किया गया है । ऐसा करके कवियों ने भाषा के स्तर पर सारी वर्जनाओं को नकार दिया है । अश्लील समझी जाने वाली शब्दावलियों का प्रयोग, इस दौर के कवियों की क्रोध, आक्रोश, विद्रोह, कुण्ठा, पीड़ा आदि से युक्त चेतना का परिणाम है । जब मन ऐसे भावों से भर जाता है तो व्यक्ति की भाषा श्लीलता को छोड़कर अश्लीलता का जामा पहन लेती है । वह गाली-गलौज के स्तर तक उतर आता है । उसकी सारी शिष्टता और मर्यादा चुक जाती है । "आज के कवियों को कविता की वह भाषा अपर्याप्त प्रतीत हुई है, जिस भाषा में कहीं - न - कहीं अभिव्यक्ति की शिष्टता, मर्यादा या शालीनता बची हुई है । वे अपने जिन अनुभवों को प्रकट करना चाहते हैं, उनको शालीनता कुण्ठित करती है और परिष्कार निष्प्राण बना देता है । इन अनुभवों की, आक्रोश, विद्रूप, भद्दे, अनगढ़, और गाली-गलौज की सीमा में समझे जाने वाले शब्दों के माध्यम से ही अकृत्रिम और समर्थ रूप में अभिव्यक्ति होती है ।"[1] अश्लील शब्दों का प्रयोग आश्चर्योत्पादक नहीं बल्कि स्वाभाविक है । वर्जनाओं, शिष्टताओं एवं श्लीलताओं के परित्याग के कारण भाषा एकदम खुल गयी है, जिससे कवियों के मन की सच्चाई बिना लाग लपेट के अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुई है । अश्लील एवं अशिष्ट शब्दों से युक्त नंगी भाषा के कारण व्यवस्था के प्रति कवियों के मन का आक्रोश एवं विद्रोह पूर्ण साहस एवं निर्भयता के साथ प्रकट हुआ है । भारतीय पार्लियामेन्ट के प्रति 'निर्भय मलिक' के मन का विद्रोह अश्लील

1- डॉ0 दिनेश्वर प्रसाद - सन् साठ के बाद हिन्दी कविता - पृ0 40 , सं0 वचनदेव कुमार ।

एवं अशिष्ट कही जाने वाली भाषा में निम्न प्रकार से व्यक्त हुआ है :

"सुनो दोस्तों मेरे मरने के बाद
मेरी लाश पर वीर्यपात कर मूत देना
और किसी रजस्वला स्त्री के कपड़े में लपेट कर फेंक देना पार्लियामेन्टमें
सचमुच इतना बड़ा कब्रगाह और कहाँ मिलेगा समूचे हिन्दुस्तान में ।"[1]

यहाँ प्रयुक्त 'वीर्यपात', 'रजस्वला स्त्री के कपड़े', 'मूत देना' आदि शब्द समाज को भले ही अश्लील लगते हों, लेकिन यहाँ कविता में वे गम्भीर सार्थकता को समेटे हैं । 'मूत' से भीगी हुई एवं रजस्वला स्त्री के कपड़े में लिपटी हुई अपनी लाश को 'पार्लियामेन्ट' रूपी कब्रगाह में फेंकने की बात कह कर 'निर्भयमलिक पार्लियामेन्ट की अनैतिकता", अराजकता, जनविमुखता एवं घोर शोषकता को जितने सशक्त ढंग से व्यक्त करते हैं, उतने सशक्त ढंग से किसी भी भाषा के शिष्ट एवं श्लील समझे जाने वाले शब्द उसे व्यक्त नहीं कर सकते हैं । अशिष्ट एवं अश्लील समझे जाने वाले शब्दों से युक्त साठोत्तरी कविता के कुछ उदाहरण निम्न हैं, जो अपनी अशिष्टता एवं अश्लीलता में भी सार्थक है :

"वर्तमान की बजबजाती हुई सतह पर
हिजड़ों की एक पूरी पीढ़ी लूप और अन्धाकूप के मसले पर
बहस कर रही है
आजादी इस दरिद्र परिवार की बीस साला बिटिया
मासिक धर्म में डूबे हुए क्वाँरेपन की आग से
अन्धे अतीत और लँगड़े भविष्य की
चिलम भर रही है ।" - {संसद से सड़क तक, पृ0 24, धूमिल}

1- श्मशानी पीढ़ी ।

"सार्वजनिक पेशाबघरों की तरह
सड़ांध मारते विद्यामन्दिरों में बोर्ड,डेस्क और दीवारों पर
बनी खिंची खुदी
शिश्न और योन की आकृतियाँ
इन्हीं में ढूंढ़ते हैं शोहदे
प्रजातन्त्र और भारत माता
- - - - - - - भाग्य विधाता।" - {'दीवार पर खून से' पृ0 82, चन्द्रकान्त देवताले}

साठोत्तरी कविता की अश्लील और अशिष्ट शब्दों से युक्त भाषा पर पूर्वाग्रह से युक्त होकर आरोप, प्रत्यारोप करना तर्कसंगत नहीं है। अश्लील एवं अशिष्ट कहे जाने वाले शब्द प्रयोग विधि के कारण अश्लील एवं अशिष्ट होते हैं। वे वहीं पर अश्लील कहे जा सकते हैं जहाँ उनका उद्देश्य मात्र अश्लीलता का प्रदर्शन होता है। लेकिन जहाँ ये शब्द किसी विचार या भाव को प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं, वहाँ इनको अश्लील नहीं कहा जा सकता। ऐसे शब्दों के प्रयोग के उद्देश्य की उत्कृष्टता एवं निकृष्टता ही क्रमशः उनकी श्लीलता एवं अश्लीलता का निर्धारण करती है। साठोत्तर कवियों ने जहाँ कविता में अपनी काम कुण्ठा को प्रदर्शित किया है वहाँ निःसन्देह उनकी भाषा अश्लील है।

सन् साठ के बाद की हिन्दी कविता में जन-भाषा के शब्दों की अधिकता दिखायी पड़ती है। ऐसे शब्दों की अधिकता का कारण इस दौर की कविताओं का आम आदमी की समस्याओं से घनिष्टता से जुड़ना तथा पारम्परिक काव्य-भाषा का समसामयिक भावानुभूति को स्पष्ट करने में अक्षम हो जाना है। जनसामान्य को, और जनसामान्य की समस्याओं को उसकी ही भाषा में सफलता एवं सहजता से व्यक्त किया जा सकता है। इसीलिए इस काल की कविता में जनभाषा का सहारा लिया गया है

साठोत्तरी कविता को नयी कविता से उत्तराधिकार में जो भाषा प्राप्त हुई थी, वह काफी घिस गयी थी और उसके शब्द रूढ़ हो गये थे । फलत: वह समसामयिक भावबोध को पूरी सजीवता एवं ईमानदारी से व्यक्त करने में अक्षम हो गयी थी । इसलिए भी कवियों को नये एवं समर्थ शब्दों की तलाश में जनभाषा की शरण में जाना आवश्यक हुआ है । साठोत्तरी कविता में आये जनभाषा के शब्द अपने अभिधार्थ के साथ व्यंग्यार्थ को भी समेटे रहते हैं, "कविता के शब्द 'बोल चाल' के हो सकते हैं - लेकिन उनका अर्थ वही नहीं होता । वे अर्थ की नयी सम्पदायें लेकर आते हैं ।"[1] कवियों ने जनभाषा या बोल-चाल की भाषा के शब्दों को काव्यभाषा में बड़ी सहजता एवं स्वाभाविकता से खपाया है । यथा :

"मूत और गोबर की सारी गंध उठाये
हवा बैल के सूजे कन्धे से टकराये
खाल उतरी हुई भेंड-सी
परी छाया नीम के पेड़ की
डाँय-डाँय करते डाँगर के सींग में
आकाश फँसा है ।" - 'गाँव' कविता - धूमिल

"पेशेवर भाषा के तस्कर-संकेतों
और बैलमुत्ती इबारतों में अर्थ खोजना व्यर्थ है ।" -'संसद से सड़क तक, पृ0 10, धूमिल ।

"कहाँ गई बाड़े में औंधी-औंधी घरवाली
चुरी हुई दाल पिसे मसाले में
खूब भुने हुए नजीज - - - - " - 'चौथा सप्तक - सं0 अज्ञेय - पृ0 256, श्रीराम शर्मा ।

1- चौथा सप्तक - 1979, पृ0 225 - श्रीराम शर्मा - सं0 अज्ञेय ।

"इस विराट नगरी में बड़े-बड़े धोखे हैं
गुर्राते हुए बाजों में
और कुलबुलाते हुए मसौदों मे
और छोटे-छोटे धोखे फूलदानों में है ।" - आत्महत्या के विरुद्ध - पृ0 144, रघुवीर सहाय ।

मूत, गोबर, डाँय-डाँय, डाँगर, कुकी हुई, बेलमुत्ती, कुलबुलाते आदि शब्द उपर्युक्त कविताओं में सम्बन्धित अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए जितने उपयुक्त है, उतने अन्य शब्द उपयुक्त नहीं हो सकते । ये शब्द सहज स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं, अत: इनका गँवारूपन जरा-सा भी नहीं खटकता । यहाँ, भारतीय काव्य - शास्त्र में निर्धारित 'ग्राम्यत्व दोष' की अवधारणा अपना कोई मूल्य नहीं रखती ।

सच्चाई तो यह है कि जनभाषा एवं काव्य भाषा के मध्य मात्र प्रयोगविधि का अन्तर है । जनभाषा ही एक खास ढंग से प्रयुक्त होकर काव्यभाषा का रूप ले लेती है ।[1] डाॅ0 विद्या निवास मिश्र ने लिखा है - "काव्य-भाषा सामान्य भाषा से उद्भूत है और सामान्य भाषा जो कल आने वाली है वह आज की समर्थ काव्य - भाषा में मौजूद है । वस्तुत: भाषा के इन दोनों स्तरों का अन्तर, उद्देश्य का है, न कि समूह का ।"[2] साठोत्तरी कविता में जनभाषा के शब्दों का प्रयोग आकस्मिक रूप से नहीं हुआ है, बल्कि ऐसे शब्दों के प्रयोग की एक लम्बी परम्परा हिन्दी कविता में विद्यमान है । 'भक्तिकालीन काव्य' एवं 'प्रगतिवादी काव्य' जन भाषा के काफी निकट है, नयीकविता में भी जनभाषा के शब्दों का प्रयोग है ।

1- रीति विज्ञान - पृ0 36, डाॅ0 विद्या निवास मिश्र ।
2- आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा पृ0 694, राम कुमार सिंह ।

साठोत्तरी कविता की भाषा गद्य भाषा के काफी निकट है । इसका कारण कविता में बिम्बों एवं प्रतीकों का कम-से-कम प्रयोग, सपाट बयानी के प्रति झुकाव, भावुकता की कमी तथा यथार्थता एवं तार्किकता की बहुलता है । बिम्बात्मकता एवं प्रतीकात्मकता भाषा को काव्यात्मक बनाती है, जब कि सपाटबयानी उसे गद्यात्मकता की ओर ले जाती है । परिवेश की जटिलता को यथार्थता, तार्किकता, पूर्णता एवं स्पष्टता के साथ व्यक्त करने में जब बिम्ब एवं प्रतीक बाधक होने लगे तो 1960 के बाद कविता ने उनका परित्याग कर सपाटबयानी का मार्ग पकड़ा । जिससे उनकी भाषा गद्य के निकट आ गयी । निम्न कविताओं की भाषा में हम गद्य भाषा सी झलक देख सकते हैं :

"मगर यह वक्त घबराये हुए लोगों की शर्म
आँकने का नहीं
और न यह पूँछने का
कि सन्त एवं सिपाही में देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य कौन ।"
-संसद से सड़क तक' -कविता 'बीस साल बाद' -धूमिल

"कई शहरों के बाजारों से गुजरूँगा
मैं कई बार
नौकरियाँ देखूँगा
किताबें खरीदूँगा
कई बार अचानक नींद से
जागकर सोचूँगा वह क्या था, वह क्या था ।" -'बहनें और अन्य - कवितायें' -पृ0 86 साइकिल-असद जैदी

"अन्धों का साथ हो जाये तो
खुद भी आँखें बन्द कर लो
जैसे सब टटोलते हैं
राह तुम भी टटोलो ।" -'एक सूनी नाव' पृ0 35 सर्वेश्वर दयाल -
सक्सेना ।

साठोत्तरी कविता की भाषा गद्य भाषा के निकट है लेकिन गद्य भाषा नहीं है । "कविता के शब्द गद्य से आते हैं, पर वे गद्य की भाषा से विच्छिन्न होकर आते हैं, वे एक नये अर्थ में ढलकर आते हैं । इसलिए कविता कभी गद्य नहीं हो सकती । कविता में शब्द का संघटन उसका विन्यास उसे गद्य जैसा नहीं रहने दे सकता, अन्यथा वह कविता नहीं है ।"[1]

संक्षेप में साठोत्तरी कविता की भाषा खुली हुई, गोपनीयता से रहित एवं नंगी भाषा है । वह अपनी अनगढ़ता, अश्लीलता, जनोन्मुखता, गद्यमयता एवं नंगेपन में ही पूर्ण, आकर्षक एवं तथ्य संप्रेषण में सक्षम है ।

2- बिम्ब : कविता के हाशिये में :-

हिन्दी समीक्षा के अन्तर्गत 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग अँग्रेजी के 'इमेज' शब्द के हिन्दी रूपान्तर के रूप में किया गया है । 'बिम्ब' का शाब्दिक अर्थ है - प्रति - बिम्ब, छाया, प्रतिमूर्ति, आभास, सूर्य या चन्द्र का मण्डल ।[2] साहित्यशास्त्र के अन्तर्गत किसी-न-किसी रूप में बिम्ब के चित्र (छाया) अर्थ को ही स्वीकृति मिली है ।

1- चौथा सप्तक - पृ0 226, श्रीराम वर्मा, सं0 अज्ञेय ।

2- बृहत् हिन्दी कोश - पृ0 808, कालिका प्रसाद

शब्दकोश का यह सीधा-साधा शब्द साहित्यशास्त्र में एक पारिभाषिक शब्द बन गया है । जिसे विद्वानों ने अपनी बुद्धि के अनुसार परिभाषा की परिधि में बाँधने का प्रयास किया है । मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक के विचार से -'वस्तु, गुण एवं परिस्थितियों का, जिनकी किसी विशेष समय में उपस्थिति नहीं है, भावात्मक बोध ही बिम्ब है ।"[1] सी० डी० लेविस के मतानुसार -'काव्य बिम्ब एक ऐन्द्रिक शब्द चित्र है, जो कुछ-न-कुछ अलंकृत होता है, जिसके साथ किसी मानवीय संवेग का जुड़ाव होता है तथा वह पाठक के मन में उसी तरह का संवेग जागृत कर सकता है ।"[2] स्टीफेन जी ब्राउन का मत है कि -'बिम्ब काल्पनिक या वास्तविक वस्तुओं या घटनाओं के रंग, ध्वनि, गति और आकार - प्रकार से पूर्ण प्रभावशाली शब्द चित्र का नाम है ।'[3]

भारतीय विद्वानों की बिम्ब सम्बन्धी अवधारणायें कुछ इस प्रकार हैं - "काव्यात्मक बिम्बों से साधारणत: यह बोध होता है कि ये शब्द द्वारा निर्मित चित्र हैं ।"[4] "जब कलाकार अपने अमूर्त मर्म संवेगों की यथातथ्य अभिव्यक्ति के लिए बाह्य जगत से ऐसी वस्तुओं को कला के फलक पर इस रूप में उपस्थित करता है कि हम भी उसकी भावना से वैसे ही मर्म संवेग की प्राप्ति कर सकें, जिससे कलाकार

1- समकालीन हिन्दी कविता में जनवादी चेतना - पृ० 204, डॉ० नकछेद ।

2- साठोत्तरी हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ - पृ० 111, डॉ० नीलकुसुम ।

3- - वही - पृ० 111

4- काव्यात्मक बिम्ब - पृ० 54, ब्रजनन्दन प्रसाद अघोरी ।

पहले ही गुजर चुका है, तब उन योजित वस्तुओं की वैसी प्रस्तुति को हम बिम्ब - विधान कहते हैं ।"[1] "काव्य बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस दृष्टि है, जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है ।"[2] निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि बिम्ब मूर्त या अमूर्त, स्थूल या सूक्ष्म, काल्पनिक या वास्तविक वस्तुओं का शब्द द्वारा निर्मित ऐसा भावात्मक चित्र है, जिसका मन द्वारा अनुभव होता है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में बिम्ब को काव्य के तत्व या प्रतिमान के रूप में विवेचित नहीं किया गया है । यह मूलत: पाश्चात्य काव्य चिन्तन की देन है । परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता, कि भारतीय काव्य-मीमांसक काव्य बिम्ब' से अनभिज्ञ थे । पाश्चात्य काव्य समीक्षा का बिम्ब भारतीय काव्यशास्त्र के 'विभावना व्यापार' में समाहित है । भारतीय काव्यशास्त्र के आधुनिक काल में "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कविता में पुन: 'विभावना व्यापार' की प्रतिष्ठा की । सन्दर्भ भेद से इसी के लिए उन्होंने 'मूर्तिमत्ता' एवं 'बिम्ब ग्रहण' शब्दों का भी प्रयोग किया"[3]

'बिम्ब' को 'वाद' के रूप में प्रतिष्ठित करने, काव्य के एक महत्त्वपूर्ण प्रतिमान के रूप में स्वीकृति देने तथा उसे आन्दोलन के रूप में खड़ा करने का कार्य पाश्चात्य साहित्य शास्त्रियों का ही है, जिनमें दार्शनिक कवि टी0 आर0 ह्यूम का नाम प्रमुख है । इन्हें ही बिम्बवादी आन्दोलन का प्रवर्तक माना जाता है । यह काव्यान्दोलन पाश्चात्य साहित्य जगत में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काफी

1- सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व - पृ0 204, कुमार विमल ।

2- काव्य बिम्ब - पृ0 5, डॉ0 नगेन्द्र ।

3- कविता के नये प्रतिमान - पृ0 115 , नामवर सिंह ।

व्यापक एवं प्रभावपूर्ण रहा है । इस आन्दोलन का तत्कालीन कवियों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि बिम्बवादी कविता की एक धारा ही चल पड़ी । इस धारा के कवियों में एजरापाउण्ड, रिचर्ड एलडिंगटन, एस0 फ्लिन्त आदि प्रमुख हैं ।"[1]

बिम्बवादिता का प्रभाव पाश्चात्य कविता की तरह हिन्दी कविता पर भी पड़ा, जिसे छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद एवं नयी कविता तक 'बिम्ब' काव्य रचना और समीक्षा दोनों स्तरों पर सशक्त रूप से प्रतिष्ठित हो गया,जैसाकि केदार नाथ सिंह के शब्दों से स्पष्ट है - "कविता में मैं सबसे अधिक ध्यान देता हूं,बिम्ब विधान पर । बिम्ब विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषयवस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी । विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त ।"[2] बिम्ब विधान को काव्य मूल्यांकन का प्रतिमान प्रस्तावित करते हुए केदार नाथ सिंह ने कहा है - "एक आधुनिक कवि की श्रेष्ठता की परीक्षा उसके द्वारा आविष्कृत बिम्बों के आधार पर ही की जा सकती है । उसकी विशिष्टता और उसकी आधुनिकता सबसे अधिक उसके बिम्बों में ही व्यक्त होती है । "वे आगे कहते हैं - "मैं बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया पर जोर इसलिए दे रहा हूं कि आज काव्य के मूल्यांकन का प्रतिमान लगभग वही मान लिया गया है - - - - प्राचीन काव्य में जो स्थान चरित्र का था, आज की कविता में वही स्थान 'बिम्ब' अथवा 'इमेज' का है ।"[3]

1- साठोत्तरी कविता की प्रवृत्तियाँ - पृ0 113, डॉ0 नील कुसुम ।

2- तीसरा सप्तक - पृ0 120, केदारनाथ सिंह का वक्तव्य - सं0 अज्ञेय ।

3- - वही - पृ0 128

काव्य रचना एवं आलोचना में बिम्ब को इतनी मजबूत स्वीकृति मिलजाने का परिणाम यह हुआ कि कवि एवं आलोचक बिम्ब के प्रति आग्रही हो गये । बिम्बों के प्रति इस अतिशय झुकाव के कारण बिम्ब कविता का साधन न होकर साध्य बन गया और कविता बिम्बों का अजायबघर बन गयी । "बिम्बों के आधार पर निर्मित कविता तथा कविता के विन्यास में यथासम्भव सायास बिम्ब योजना का दुष्परिणाम यह हुआ कि आलोचना का सम्पूर्ण ध्यान समूची कविता पर न जाकर कुछ चमकते हुए बिम्बों पर ही केन्द्रित हो गया । ऐसा नहीं कि यह आलोचकों का ही दृष्टि दोष हो, स्वयं कवियों की ओर से भी इस प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला[1]। बिम्बोन्मुखता की इस प्रवृत्ति के कारण नयी कविता की सम्प्रेषणीयता प्रभावित हुई । बिम्ब विधान की सायासत्ता के कारण काव्यभाषा कवि की व्यक्तिगत भाषा बन गयी, उसकी निर्वैयक्तिकता समाप्त हो गयी । बिम्बों के उलझाव के कारण कविता समझ के बाहर हो गयी । उसे समझने के लिए उसका अपना स्वरूप अपर्याप्त हो गया ।

सन् 1960 तक आते - आते कवियों का बिम्ब से मोह भंग हो गया । उन्होंने बिम्ब के प्रति विद्रोह कर दिया, उसकी महत्ता को अस्वीकार कर दिया तथा उसे काव्य मूल्यांकन के प्रतिमानों की श्रेणी से निकाल कर बाहर फेंक दिया । बिम्बों के प्रति इन कवियों का मोह भंग एवं विद्रोह किसी पूर्वाग्रह का परिणाम नहीं, बल्कि तत्कालीन साहित्यिक आवश्यकता थी । बिम्ब उनकी समकालीन अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति में बाधक था । राजनीतिक आर्थिक एवं सामाजिक

1- कविता के नये प्रतिमान - पृ0 119 - 20, डॉ0 नामवर सिंह ।

व्यवस्था के प्रति इन कवियों के मन में जो विद्रोह, आक्रोश, पीड़ा, निराशा आदि का भाव था, वह बिम्ब के सहारे पूरी सच्चाई से व्यक्त नहीं हो सकता था। बिम्ब किसी बात को कहने का कलात्मक एवं घुमावदार रास्ता है, जबकि विद्रोह, आक्रोश आदि भाव सहज एवं सीधे मार्ग के हामी हैं, वे दुराव छिपाव एवं घुमाव नहीं जानते। नामवर सिंह ने लिखा है कि "वस्तुतः इस बिम्ब मोह के टूटने का कारण सामाजिक एवं ऐतिहासिक है। छठे दशक के अन्त एवं सातवें दशक के आरम्भ में सामाजिक स्थिति इतनी विषम हो उठी कि उसकी चुनौती के सामने बिम्ब विधान कविता के लिए अनावश्यक भार प्रतीत होने लगा। जिस प्रकार सन् 1936 तक आते-आते स्वयं छायावादी कवियों को भी सुन्दर शब्दों एवं चित्रों से लदी हुई कविता निस्सार लगने लगी, उसी प्रकार सन् साठ के आस-पास नयी कविता की बिम्ब धर्मिता की निरर्थकता का एहसास होने लगा।"[1]

अशोक वाजपेयी ने बिम्ब के प्रति विरोध की स्थिति की ओर संकेत करते हुए लिखा है – "नयी कविता बिम्ब केन्द्रित रही है और अक्सर कविता में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ है कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से मुक्त करके ही जीवन्त और प्रासंगिक रखा जा सकता है। उनके सामने बिम्ब प्रधान कविता कुछ शक की चीज बन गयी और सपाट-बयानी की तरफ कई कवि झुके और उसे विश्वसनीय माना जाने लगा।"[2]

सन् 1960 के बाद की हिन्दी कविता में बिम्बों के प्रति अस्वीकार का भाव निस्सन्देह दिखायी पड़ता है। लेकिन यह नहीं कहा जा सकता कि इस दौर

1– कविता के नये प्रतिमान – पृ0 125 – 26, डॉ0 नामवर सिंह।

2– धर्मयुग – 23 जून 1968, अशोक वाजपेयी।

की कविता में बिम्ब है ही नहीं। कविता से बिम्ब का पूर्णतः परित्याग सम्भव नहीं है। "बिम्ब काव्य का अत्यन्त प्रभावी माध्यम है और इसीलिए काव्य के सन्दर्भ में उसका मूल्य असंदिग्ध है।"[1] "बिम्ब कवि का व्यक्तित्व ही है। एक कवि अनजान रूप में अपनी भीतरी पसन्द-नापसन्द, अपनी दिलचस्पी एवं पर्यवेक्षण की बातें मनोवृत्ति एवं विश्वास आदि को अपने बिम्बों के माध्यम से ही व्यक्त कर देता है।"[2] कवि की सूक्ष्म भावनाओं या अमूर्त सहजानुभूतियों को बिम्बों के द्वारा ही मूर्तिमत्ता तथा अभिव्यक्ति को चारुता मिलती है।"[3] साठोत्तरी कविता में बिम्ब विधान के प्रति जो वर्जना दिखाई पड़ती है वह 'अति सर्वत्र वर्जयेत' के सिद्धान्तानुसार है। बिम्बों के प्रति उसका आग्रह नहीं है, लेकिन काव्य रचना के दौरान, जो स्वाभाविक बिम्ब अनायास बन गये हैं, उनसे उसका परहेज भी नहीं है। साठोत्तरी कविता बिम्बों के विरुद्ध नहीं है, बल्कि बलपूर्वक बिम्बविधान के विरुद्ध है। साठो-त्तरी कविता के सहज, स्वाभाविक बिम्बों के कुछ उदाहरण निम्न है :

1- दृश्य बिम्ब :

> "दोपहर हो चुकी है
> हर तरफ ताले लटक रहे हैं
> दीवालों से चिपके गोली के छर्रे
> और सड़कों पर बिखरे जूतों की भाषा में एक दुर्घटना लिखी गयी है।"
>
> — संसद से सड़क तक, पृ0 10 धूमिल ।

1- धर्मयुग 18 सितम्बर 1966, पृ0 23, डॉ0 नगेन्द्र ।

2- दिनकर एक पुनर्मूल्यांकन - पृ0 10, डॉ0 विजेन्द्र नारायण सिंह ।

3- सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व - पृ0 123, कुमार विमल ।

2- स्पर्श बिम्ब :-

"मैं चूमता हूँ
तुम्हारा मस्तक
तुम्हारी भौंहें
तुम्हारे कपोल
तुम्हारे अधर
तुम्हारा कण्ठ
तुम्हारा वक्ष ।" -'जंगल का दर्द' पृ0 111, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

3- गंध बिम्ब :-

"भीड़ में मैलखोरी गंध मिली
भीड़ में आदिम मूर्खता की गंध मिली
भीड़ में मुझे नहीं मिली मेरी गंध
जब मैंने सांस भर उसे सूँघा ।" -'आत्महत्या के विरुद्ध' पृ0 5, रघुवीर सहाय ।

4- स्वाद बिम्ब :-

"जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है ।"
- संसद से सड़क तक - पृ0 112, धूमिल ।

5- रंग बिम्ब :-

"मेरे पीछे गुलाब खिले थे
सामने सूर्यास्त हो रहा था
मैंने नीचे बैठकर देखा
मेरा सारा शरीर हरा था
घास में छिपा टिड्डा हरा था ।"

6- ध्वनि बिम्ब :-

"नदी से लेकर टंकी तक
टंकी से लेकर नल तक वे छरछरा रहे हैं ।" - बची हुई पृथ्वी-पृ0 34,
जगूड़ी ।

7- वैज्ञानिक बिम्ब :-

"यह जिन्दगी
जैसे बम्बई मेल की तीव्र रफ्तार हो
बिजली का बटन दबा
और मचा
रचना नहीं देश बिराना है ।" - ईहामृग पृ0 7, वचन देव कुमार ।

8- पौराणिक बिम्ब :-

"लगता है अब कालिदास का यक्ष चाँद को छू आया है ।
साथ गयी थी प्रिया यक्षिणी ।" - तालाब की मछलियाँ, पृ0 152,
नागार्जुन ।

निष्कर्षत: इस दौर की कविता में बिम्बों का ठसाठस जमाव नहीं है । कवियों का बिम्ब विधान सायास नहीं है । काव्य रचना के दौरान अनायास ही सृजित हो जाने वाले बिम्ब ही इनकी कविताओं में मिलते हैं । सारे बिम्ब स्वत: स्फूर्त है । अत: वे कविताओं में सघन रूप से नहीं बल्कि विरलरूप से दिखाई पड़ते हैं । कविता बिम्ब के भार से बोझिल नहीं है । बिम्ब कविता में समाये हुए हैं । वे अलग से पैबन्द के रूप में नहीं दिखायी पड़ते, बल्कि वे कविता की मूल बुनावट से मिलाकर बुने गये हैं ।" सच्चाई यह है कि इस दौर के कवियों का विद्रोह बिम्बों के प्रति नहीं, बल्कि बिम्बों के अस्वाभाविक प्रयोग या बिम्ब केन्द्रित काव्य रचना के प्रति है ।

3- सपाटबयानी : बिम्ब का विकल्प :-

'सपाटबयानी' शब्द 'सपाट' एवं 'बयानी' दो शब्दों का समूह है, जिसमें 'सपाट' शब्द 'बयानी' शब्द का विशेषण है । सपाट का अर्थ है चिकना, समतल, बराबर जिसकी सतह पर कोई उभरी वस्तु न हो ।[1] तथा 'बयानी' शब्द का अर्थ है - बयान, चित्रण, जिक्र एवं हाल ।[2] इस प्रकार किसी वस्तु, घटना या विचार का सीधा-साधा स्पष्ट एवं दुराव छिपाव से रहित वर्णन ही सपाट बयानी है, जो सीधे-साधे, सरल एवं स्पष्ट शब्दों के माध्यम से ही सम्भव है । 'सपाट बयानी' कविता की पारदर्शिता है, जिसमें निहित सम्पूर्ण भाव स्पष्ट रूप से झलकते हैं । सपाट बयानी बिम्ब के प्रति विद्रोह एवं अस्वीकार का परिणाम है, इसे उसके विकल्प के रूप में स्वीकृति मिली है । नामवर सिंह के शब्दों में - "बिम्बों के कारण कविता बोल-चाल की भाषा से अक्सर दूर हटी है, बोल-चाल की सहजलय खण्डित हुई है, वाक्य विन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अन्तर्गत क्रियायें उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है और काव्य की ताकत कम हुई है । इन कमजोरियों को दूर करने के लिए ही कविता में तथाकथित सपाटबयानी अपनायी जा रही है, जिसमें फिलहाल काफी सम्भावनायें दिखायी पड़ती हैं ।"[3] अशोक बाजपेयी का भी मत कुछ ऐसा ही है - " नयी कविता बिम्ब केन्द्रित नही है और अक्सर कवियों में बिम्ब का ऐसा घटाटोप तैयार हुआ कि सातवें दशक तक आते-आते कई कवियों को यह महसूस हुआ कि कविता को बिम्ब से

1- संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर - पृ0 925, सं0 रामचन्द्र वर्मा

2- - वही - पृ0 710

3- कविता के नये प्रतिमान - पृ0 131, डॉ0 नामवर सिंह ।

मुक्त कराके ही उसे जीवन्त एवं प्रासंगिक रखा जा सकता है । उनके सामने बिम्बप्रधान कविता कुछ शक की चीज बन गयी और सपाटबयानी की तरफ कई कवि झुके और उसे विश्वसनीय माना जाने लगा ।"[1] सन् साठ तक आते-आते तत्कालीन परिवेश की विसंगतियों से त्रस्त कवि मानस अपनी बात को स्पष्ट एवं सीधे ढंग से कहने के लिए छटपटा उठा । लेकिन बिम्ब उनकी सोच की सरल अभिव्यक्ति में बाधक था । अतः बिम्बों को अस्वीकारना एवं सपाटबयानी को स्वीकारना उनकी आवश्यकता थी । नामवर सिंह के शब्दों में -"सन् साठ के आस पास नयी कविता की बिम्ब धर्मिता की निरर्थकता का एहसास होने लगा । समस्या परिस्थितियों के सीधे साक्षात्कार की थी, प्रश्न हर चीज को उसके सही नाम से पुकारने का था ।"[2]

यद्यपि कविता में सपाटबयानी बिम्ब के विरोध में आयी है, लेकिन कविता वाली सपाट बयानी बिम्ब से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकती है, क्योंकि कविता में भावावेग के कारण बिम्बों की सहज स्वाभाविक उत्पत्ति से सपाटबयानी को परहेज भी नहीं करना चाहिए । उसकी कुशलता एवं सफलता बिम्बों को अपने में समाहित कर लेने में ही है । डॉ० महेन्द्र कार्तिकेय ने सपाटबयानी को कविता का आवश्यक तत्त्व तो नहीं माना है, लेकिन उसे कविता के लिए बाधक भी स्वीकार नहीं किया है - " बिम्ब एवं सपाटबयानी दो विरोधी चीजें हैं । सपाटबयानी कविता का अनिवार्य तत्त्व नहीं हो सकता है । काव्य एवं गद्य में जो अन्तर है वही अन्तर बिम्ब एवं सपाटबयानी में है । लेकिन कार्तिकेय यह भी कहते हैं - इसमें कोई सन्देह नहीं

1- धर्मयुग - 23 जून 1968, श्रीकान्त वर्मा के काव्य संग्रह 'मायादर्पण' और दिनारम्भ की समीक्षा ।

2- कविता के नये प्रतिमान पृ० 126, डॉ० नामवर सिंह ।

कि समर्थ कवि की काव्य भाषा सपाटबयानी के बावजूद कविता रहती है जबकि असमर्थ कवियों को सपाटबयानी ने बीच में डुबा दिया है ।"[1]

कविता को संप्रेषणीय एवं तर्कसंगत विचारों से युक्त बनाने के लिए सपाट - बयानी को अपनाया गया, क्योंकि विचारगत तार्किकता एवं सम्प्रेषणीयता के अभाव में कविता समकालीन परिवेश की विभीषिका की कथा प्रस्तुत नहीं कर सकती थी । साठोत्तर कवियों ने सपाटबयानी को अभिव्यक्ति के हथियार के रूप में प्रयुक्त किया है । उन्होंने परिवेश की जटिलता के कारण उत्पन्न अपने मन के विद्रोह, अस्वीकार आक्रोश, कुण्ठा, संत्रास, घृणा आदि भावों को सपाटबयानी के माध्यम से व्यक्त किया है, क्योंकि यही माध्यम उनकी सफल अभिव्यक्ति में सक्षम है । सपाटबयानी के कुछ उदाहरण निम्न है :

"अलमुनियम का यह दो डिब्बे वाला कटोरदान
बच्चों के हाथ से छूटकर
नहीं गिरा होता सड़क पर
तो यह कैसे पता चलता
कि उसमें
चार सूखी रोटियों के साथ
प्याज की एक गाँठ
और दो हरी मिरचे भी थे ।" -'समुद्र के बारे में'- पृ0 8, भगवत रावत ।

भगवत रावत की यह कविता सीधे-साधे शब्दों में भारतीय जनतन्त्र के भावी कर्णधार बच्चों के कुपोषण पर टिप्पणी करते हुए आम आदमी की आर्थिक बदहाली को पूरी सच्चाई से व्यक्त करती है । ऐसा कथन की सादगी एवं सपाटता से ही सम्भव हुआ है ।

1- आधुनिक कविता के नये मूल्य - पृ0 159, डॉ0 महेन्द्र कार्तिकेय ।

"एक आदमी
रोटी बेलता है
एक आदमी रोटी खाता है
एक तीसरा आदमी भी है
जो न रोटी बेलता है, न रोटी खाता है
वह सिर्फ रोटी से खेलता है
मैं पूछता हूँ
यह तीसरा आदमी कौन है
मेरे देश की संसद मौन है ।" - कविता -'रोटी और संसद' धूमिल

इस कविता में धूमिल ने देश में व्याप्त शोषण के मूल कारण पर प्रहार करने के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह सपाटबयानी का अनूठा उदाहरण है ।

"आओ भाई बेचू आओ
आओ भाई अशरफ आओ
मिल जुल करके छुरा चलाओ
आपस में कटमर जाओ
x x x x
इस बार दंगा बहुत बड़ा था
खूब हुई थी खून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल मतदान की ।" -'जागते रहो सोने वालों' - पृ0 ।,'दंगा' - गोरख पाण्डेय ।

इस कविता में गोरख पाण्डेय ने साम्प्रदायिकता एवं जातिवाद की बढ़ि में दंगा एवं खून कराके वोट की राजनीति करने वाले नेताओं पर बड़ा तीखा प्रहार किया है । कविता की भाषा एकदम सपाट एवं सीधी है ।

"साथियों ! महीनों से आप की
पगार रुकी हुई है
मालिकान दरख्वास्त हजम करते जा रहे हैं
आप फाके पर फाके कर रहे हो
अब उनकी कोठियों का घेराव
करने के अलावा और कोई चारा नहीं ।" –'जंगल का दर्द' – पृ० 17,
सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ।

"सुलगती आग
जब लाठियों में उतर आयेगी
– – – – – – – – – – – –
उनकी बन्दूक की हुकूमत धरी रह जायेगी ।" –'मिट्टी बोलती है' पृ० 85,
रमेशरंजक ।

यद्यपि बिम्ब विधान की असमर्थता एवं असफलता को ध्यान में रखकर ही 1960 के बाद की कविता में सपाटबयानी का प्रयोग आरम्भ हुआ था, लेकिन अन्तत: वह भी न्यूनताओं से सम्पृक्त हो गयी । "युवा कवियों ने कविता को बिम्ब से मुक्त कर सपाटबयानी की ओर उन्मुख किया, किन्तु यह जल्दी ही सतही एवं यान्त्रिक बयान का पर्याय बन गयी है और समकालीन यथार्थ का बड़ा अवबोध बयान उसके माध्यम से हो रहा है ।"[1]

सपाटबयानी का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि कविता में अनावश्यक वर्णनों की भीड़ मच गयी, वह बिना रोक टोक कितनी भी लम्बी होने के लिए स्वतन्त्र हो गयी और कोई कुछ भी लिख कर अपने को कवि कहने की स्थिति में आ गया । जिस सपाट बयानी का प्रयोग कविता को जीवन्त बनाने और परिवेश को

1– अशोक वाजपेयी – फिलहाल – पृ० 13 ।

पूरी सच्चाई और स्पष्टता से प्रस्तुत करने के लिए किया गया था, उसे कुछ कवियों ने एक सतही वक्तव्य के स्तर तक गिरा दिया। सुधीर पचौरी के शब्दों में "अधिकांश कविताओं का मूलभूत स्रोत स्वयं कवि ही लगता है। वह अधिकांश में यथार्थ जीवन के जटिल दृश्यों को प्रस्तुत करने की जगह वस्तुस्थिति के प्रति अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया और मन पर पड़े प्रभावों के ऊपरी रंगों को अभिव्यक्त करता है। नतीजा यह होता है कि कहीं हमें वक्तव्य - ही - वक्तव्य मिलते हैं, और कहीं आत्म निवेदन - - - - - बहुत कुछ अरण्य रोदन की सी स्थिति है यह।"[1] यथा -

"एक दिन
चिड़चिड़े बच्चों को लिए दवाखाने में खड़े खड़े
मुझे एकाएक लगा मैं अधेड़ हो गया
न गलाबन्द कोट
न दुपट्टा
न टोपी
मैं खड़ा हुआ हा,हा,हू,हू करता हुआ।" - 'आत्महत्या के विरुद्ध'-कविता 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' - रघुवीर सहाय।

आक्रोश, विद्रोह एवं अस्वीकार वाली सपाटबयानी अधिकांश आक्रोशी युवा कवियों के यहाँ लफ्फाजी एवं खोखलेपन से युक्त हो गयी है। उसमें गम्भीरता का नितान्त अभाव है। यथा -

"सुनो! मेरी कविता में उनकी मौत की सजा का
ऐलान किया जा रहा है।
आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों
और हर पेड़ पर लटकती मिलेंगी - हिन्दुस्तानियों के
मुखौलनियों की लाशें और
इसके बाद भी कुछ कहना बाकी रह जाता है क्या?" - 'बे हाथ होठें' पृ० 69. [illegible]।

बहुत से कवियों के यहाँ सपाटबयानी सूचना के स्तर तक पहुँच गयी है । इसका कारण अपने परिवेश के प्रति कवियों के अनुभव का सतहीपन है । जब अनुभव एवं समझ में गम्भीरता नहीं रहती तो वर्णन सूचनात्मक होता है विश्लेषणात्मक नहीं ।

यह सत्य है कि सपाटबयानी के स्तर में न्यूनतायें आने लगी हैं । उसे अनेक लोगों ने अपनी निरर्थक वक्तव्यबाजी का साधन बनाते हुए, अपने कवि होने का दावा पेश किया है । लेकिन सपाटबयानी को बिम्ब के विकल्प के रूप में अपनाने का उद्देश्य सफल रहा है, और आज भी उसकी उपयोगिता सुरक्षित है । समकालीन परिवेश की जटिलताओं को सच्चाई, व्यापकता एवं स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करने की क्षमता सपाट बयानी में ही है । सपाट बयानी में आया दोष कवियों की अकुशलता का परिचायक है सपाटबयानी का नहीं ।

4- <u>लम्बी कविता : अभिव्यंजना की आवश्यकता :-</u>

'लम्बी कविता' का नाम लेते ही विलोम परम्परा में 'छोटी कविता' का विचार मन में अपने आप सुनिश्चित हो जाता है । काव्य संरचना के ये दो अभिधान आधुनिक काव्यशास्त्र में क्रमशः प्रबन्ध (इतिवृत्त) एवं प्रगीत (मुक्तक) काव्य रूपों के लिए प्रयुक्त हुए हैं । लेकिन प्रश्न उठता है कि कविता की लम्बाई एवं छोटाई को कैसे मापा जाय ? मात्र आकार के विस्तार की माप के आधार पर किसी वस्तु की लम्बाई एवं छोटाई के निर्धारक गणितीय पैमाने से, कविता की लम्बाई एवं छोटाई की गणना तर्क संगत एवं व्यावहारिक नहीं होगा, क्योंकि कविता में मात्र शब्दों एवं अक्षरों का विस्तार नहीं रहता, बल्कि भावों एवं विचारों का गुम्फन भी होता है , जिसकी माप में गणितीय पैमाना असमर्थ है । वास्तविकता यह है कि लम्बी एवं छोटी कविता के मध्य विभाजक रेखा मात्र उसके लघु या दीर्घ रूपाकार के आधार पर

ही नहीं खींची जा सकती । परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में - "लम्बी कविताओं का रूप प्रधान नहीं है - प्रधानता उस सन्दर्भ की है, उस ऐतिहासिक, सामाजिक संक्रमण के अपरिहार्य दबाव की है, कथ्य के जटिल विस्तार की है, जिसके एक सन्दर्भ दूसरे से जटिल रूप में अभिन्न हैं ।"[1]

'लम्बी कविता' एवं 'छोटी कविता' के अन्तर को स्पष्ट करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने लिखा है : " यह अन्तर केवल आकार का नहीं है । - - - - - - छोटी कविता एवं लम्बी कविता में दो काव्य सिद्धान्तों का अन्तर है । छोटी कविता मूलत: प्रगीत कविता है, जबकि लम्बी कविता नाटकीय कविता है । नाटकीय कविता अरस्तू द्वारा निरूपित 'कार्य का अनुकरण सिद्धान्त' - पर आधारित है । जबकि प्रगीत कविता में सारा बल अनुचिन्तन पर होता है । छोटी कविता के लिए किसी विषयवस्तु का होना आवश्यक नहीं है । विषयवस्तु निहायत मामूली -सी कोई चीज हो सकती है । किन्तु प्रगीत का कवि उस वस्तु का अनुकरण करने के लिए बाध्य नहीं है । प्रगीत कविता न अनुकरणात्मक है, न वर्णनात्मक और न कथात्मक । इसके मूल में अनुचिन्तन एवं अनुभूति की प्रधानता है ।"[2] छोटी कविता में भावात्मकता की प्रधानता होती है, जबकि लम्बी कविता में विचार प्रधान होते हैं । लम्बी कविता विचारों के जटिल विस्तार एवं तनाव की कविता है और प्रगीत या छोटी कविता विचारों के संकलन की कविता है । भाव क्षणिक एवं लघु होते हैं, जबकि विचार तार्किक, प्रदीर्घ एवं तनाव युक्त होते हैं । लम्बी कविता के लिए सर्जनात्मक तनाव की आवश्यकता पर बल देते हुए नरेन्द्र मोहन ने लिखा है - " अनुभव एवं विचार

1- डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव : हिन्दी कविता 1960 के बाद, पृ० 12, सं० नरेन्द्र देव कुमार

2- कविता के नये प्रतिमान - पृ० 142, डॉ० नामवर सिंह ।

के लगातार दबाव से या किसी विधायक बिम्ब या रूपक की लगातार केन्द्रीय स्थिति से ही सर्जनात्मक तनाव निष्पन्न होता है। इसके बिना लम्बी कविता की [उसकी संरचना चाहे कितनी अराजक हो] कल्पना नहीं की जा सकती।"[1] जगदीश चतुर्वेदी ने भी लम्बी कविता के लिए सृजनात्मक तनाव की आवश्यकता पर बल दिया है – "आधुनिक युगीन लम्बी कविता की मूलधारणा प्रगीतात्मकता के विरुद्ध विचारात्मक प्रशाखित में, सृजनात्मक तनाव की उपज है। इसी कारण उसमें बड़े कार्य के प्रबन्धात्मक तत्त्व भी सम्मिलित हो जाते हैं। एक लम्बी कविता विचारगत तनाव के सतत् लम्बे क्रम में कई बैठकों में भी सृजित हो सकती है, उसके लिए क्षण के तीव्र भावावेश की शर्त जरूरी नहीं है।"[2]

हिन्दी में निराला की 'राम की शक्ति पूजा' एवं पन्त की 'परिवर्तन' ये दोनों कवितायें लम्बी कविता के प्रारम्भिक उदाहरण हैं। लेकिन 'राम की शक्ति पूजा' प्रबन्धात्मकता, इतिवृत्तात्मकता या आख्यान के बोझ से बोझिल है, जबकि 'परिवर्तन' कविता इन सारे दबावों से मुक्त है। डॉ० नरेन्द्र मोहन के शब्दों में – 'प्रारम्भ में लम्बी कवितायें महाकाव्यात्मक अपेक्षाओं से सम्बद्ध होकर [राम की शक्ति पूजा] आख्यान या इतिवृत्त का सहारा लेकर उपस्थित हुई थीं। हाँ, परिवर्तन प्रारम्भिक दौर की ऐसी कविता जरूर है जो किसी आख्यान या इतिवृत्त का सहारा लिए बिना परिवर्तन सम्बन्धी धारणा को आवेगपूर्ण ढंग से बिम्बात्मक रूप में अभिव्यक्त

1– कविता की वैचारिक भूमि – पृ० 47, नरेन्द्र मोहन।

2– जगदीश चतुर्वेदी : लम्बी कविता का रचना विधान पृ० 173, सं० नरेन्द्र मोहन।

करती है । यह कविता कालक्रम की दृष्टि से ही नहीं अपने विन्यास की दृष्टि से भी हिन्दी की पहली लम्बी कविता मानी जा सकती है ।"[1]

सन् 1960 के बाद छोटी एवं बड़ी दोनों प्रकार की कविताएं लिखी जाती रही हैं, लेकिन इस दौर की लम्बी कविताएं अपेक्षाकृत अधिक सशक्त एवं प्रभावोत्पादक हैं । साठोत्तर कवियों ने लम्बी कविता को बड़ी दृढ़ता एवं तत्परता से स्वीकार किया है । ऐसा करना उनकी आवश्यकता एवं बाध्यता रही है । लम्बी कविता ही एक ऐसा माध्यम थी, जिसके द्वारा ये कवि व्यवस्था की विसंगतियों के प्रति अपने विद्रोह, आक्रोश, अस्वीकार, बौखलाहट, तनाव आदि जटिल भावों को व्यक्त कर सकते थे, क्योंकि छोटी कविता इन तमाम विचारों एवं मनोभावों को अपनी सीमित शक्ति के कारण ढोने में असमर्थ थी तथा चरित्रों एवं आख्यानों के द्वारा विस्तार एवं कलात्मकता के साथ पारम्परिक विचारों को व्यक्त करने वाला काव्य का सामन्ती माध्यम प्रबन्ध, न - तो आधुनिक एवं जटिल विचारों के अनुकूल था और न-ही इन कवियों की रूढ़ि विध्वंसक चेतना से मेल खाता था । "लम्बी कविता वस्तुतः आधुनिक युगीन स्थितियों की अनिवार्यता की उपज है, जो प्रबन्धात्मक काव्य रूप के विकल्प स्वरूप अस्तित्व में आयी है । अनुभव बताता है कि ज्यों - ज्यों आधुनिक मानसिकता विकसित होती गयी, त्यों-त्यों इसके दबाव से हिन्दी साहित्य में प्रबन्ध काव्य के चरित्र में तात्त्विक दृष्टि से ढील आती गयी ।"[2]

1-अन्वेषणः लम्बी कविता का रचना विधान, पृ0 [illegible], सं0 नरेन्द्र मोहन ।

2- - वही - पृ0 162 - 63, सं0 नरेन्द्र मोहन ।

राम वचन राय ने भी लम्बी कविता की बढ़ती प्रवृत्ति के पीछे विचारों की व्यापकता एवं उन्हें संजो न सकने की छोटी कविता की असमर्थता को कारण माना है – " इधर कुछ दिनों से नयी कविता में लम्बी कविता की प्रवृत्ति बढ़ी है । इसका प्रधान कारण यह है कि कवि अपने व्यापक अनुभवों को छोटी कविताओं में नहीं रख पाता है । इसके लिए माध्यम में विस्तार की आवश्यकता होती है । इस प्रकार अनुभूत सत्य को प्रेषित करने के क्रम में कविता लम्बी होती जाती है । आज रचनाकार के पास कहने के लिए इतना कुछ है कि वह थोड़े में उन सबको कह ही नहीं सकता और उनको कहना उसके लिए जरूरी है । अतः एक बार कहना शुरू करने पर बातों का लम्बा सिलसिला लग जाता है । लम्बी कविताओं के मूल में यही कारण निहित है ।"[1] कतिपय साठोत्तरी लम्बी कविताओं का परिचय निम्न है :

'आत्महत्या के विरुद्ध' यह रघुवीर सहाय की एक लम्बी वैचारिक कविता है ।[2] जिसमें देश के राजनीतिक एवं सामाजिक सन्दर्भों को पहचानने का प्रयास किया गया है । इस कविता में देश के आम आदमी की पीड़ा निहित है । "पूरी कविता के केन्द्र में जनता या कौम है, जो हर अर्थ में कवि के लिए मुश्किल है ।"[3] 'आत्महत्या के विरुद्ध', की लय में मंद मंथरता नहीं, बल्कि आवेश में हाँफते हुए स्वर की त्वरा है – इसीलिए एक वाक्य जैसे दूसरे वाक्य के भीतर घुसा हुआ, तीसरे वाक्य को आगे की ओर धक्का देता हुआ प्रतीत होता है । इस कविता की संरचनात्मक सघनता काव्यानुभूति की शक्ति और काव्य कथ्य की ऊर्जा का प्रतिबिम्ब है ।"[4] पूरी कविता व्यंग्य के पैनेपन से युक्त है ।

1– नयी कविता : उद्भव और विकास, पृ0 236 रामवचनराय ।
2– आत्महत्या के विरुद्ध काव्य संग्रह – रघुवीर सहाय ।
3– नयी कविताएँ एक साक्ष्य – पृ0 46, डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी ।
4– कविता के नये प्रतिमान – पृ0 155 , डॉ0 नामवर सिंह ।

<u>लुकमान अली :</u> साठोत्तर दौर की यह एक महत्वपूर्ण लम्बी कविता है, जिसके रचयिता सौमित्र मोहन हैं। यह कविता लुकमान अली के विचारों एवं कृत्यों के इर्द गिर्द घूमती है। इस कविता में लुकमान अली एक बौना एवं विदूषकनुमा पात्र है। अपने इसी पात्र के सहारे सौमित्र मोहन ने जीवन एवं परिवेश की जटिलताओं, विसंगतियों तथा विडम्बनाओं को प्रस्तुत किया है। लुकमान अली एक सामान्य आदमी का प्रतीक है और उसकी सारी पीड़ायें जनसामान्य की पीड़ायें हैं। इस कविता में सौमित्र मोहन ने सामाजिक एवं राजनीतिक विसंगतियों एवं अन्तर्विरोधों के उद्घाटन के लिए व्यंग्य, एवं अश्लील शब्दों का प्रयोग किया है। "सामन्ती तथा बुर्जुआ समाज की ऊपरी भद्रता, शिष्टता, संस्कार, मर्यादा, श्लीलता और गरिमा के यहाँ टुकड़े कर दिये गये हैं। पाठक के मन में इस समूची पर पीड़क सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध घृणा पैदा करने के लिए सौमित्र मोहन कविता में 'असंस्कृतिकरण' अथवा अश्लीलीकरण को एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करते हैं। - - - - - - - राजकमल के मुक्ति प्रसंग में जो भाषा का नंगापन दिखायी देता है वह यहाँ चरमसीमा पर पहुँच जाता है। इसीलिए 'लुकमान अली' में भारतीय जीवन पद्धति उसकी राज - नीति उसकी संस्कृति एवं सभ्यता का पूर्ण अनावरण सम्भव हो सका है।"[1]

<u>मुक्ति प्रसंग :</u> राजकमल चौधरी की यह एक पुस्तकाकार लम्बी कविता है। इस कविता की भूमिका के अंश "मैं व्यक्ति राजकमल चौधरी और मैं लेखक राजकमल चौधरी इन दोनों में कोई अलगाव या विच्छेद नहीं है। - - - - - - - जिजीविषा और मुमुक्षा - - - - - इस कविता के मूलगत कारण है।"[2] से स्पष्ट हो जाता है कि

1- समकालीन कविता की भूमिका - पृ0 53-54, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

2- मुक्ति प्रसंग - पृ0 4 कवि वक्तव्य -

यह कविता राजकमल चौधरी की मुमुक्षा एवं जिजीविषा का दस्तावेज है। उन्होंने अपने जीवन की निजी जटिलताओं एवं तनावों के माध्यम से इस कविता में पूरे परिवेश की जटिलता एवं तनाव को व्यक्त किया है। इस कविता में राजकमल चौधरी ने अपनी बीमारी का ढेर सारा दृश्य प्रस्तुत किया है। जिसकी ओर संकेत करते हुए विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने लिखा है – "मुक्ति प्रसंग में राजकमल की ही बीमारी नहीं, समस्त भारत देश की बीमारी चित्रित है।"[1] उन्होंने अपनी बीमारी एवं पीड़ा के चित्रण दृश्य में पूरे देश की पीड़ा एवं बीमारी को समेटा है :

"लेकिन मेरा देश, मेरा पेट, मेरा कलेजा, मेरी अंतड़ियाँ खुलने से पहले
सर्जन को यह जान लेना होगा
हर जगह नहीं है, जल अथवा रक्त अथवा मांस अथवा मिट्टी
केवल हवा, कीड़े, जख्म और गंदे पनाले हैं अधिक स्थानों पर इस देश में
जहाँ सड़क फट गयी है नसें वहाँ हवा तक नहीं
ऊपर की त्वचा चीरने पर आग नहीं निकलेगी, नहीं धुआँ
जठराग्नि दावानल
सब बुझ गये अचानक पहले पन्द्रह अगस्त की पहली रात के बाद
अब राख ही राख बची है पीला मवाद।" – मुक्ति प्रसंग – पृ० 14

इस प्रकार मुक्ति प्रसंग कविता से हटकर पतनशील राजनीति की कविता है।"[2]

<u>पटकथा[3]</u>: यह धूमिल की लम्बी कविता है। इसमें स्वतन्त्र भारत की त्रासद कथा है। यह स्वतन्त्रता के प्रति मोहभंग का प्रामाणिक लेखा जोखा है। इस कविता में धूमिल ने स्वतंत्रता के बाद के आम चुनावों के नाटक, राजनीति की पतनशीलता,

---

1– समकालीन साहित्य एवं सिद्धान्त – पृ० 171 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय।

2– लम्बी कविताओं का रचना विधान – पृ० 120, डा० रमेश कुन्तल मेघ।

3– संसद से सड़क तक – पृ० 98 से 128 तक – धूमिल।

भारत - पाक एवं भारत - चीन युद्ध, लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु तथा राजनीतिक एवं आर्थिक विसंगतियों के मध्य जूझती जनता की बदहाली को बड़े बेबाक ढंग से पेश किया है। सम्पूर्ण कविता परिवेश की जटिलताओं एवं विडम्बनाओं को पेश करने वाली सपाटबयानी है, जो व्यंग्य एवं मुहावरों से युक्त है। यथा -

"भूख और भूख की आड़ में
चबाई गयी चीजों का अक्स
उनके दाँतों पर ढूँढना बेकार समाजवाद उनकी जुबान पर अपनी सुरक्षा -
का एक आधुनिक मुहावरा है।" - संसद से सड़क तक - पृ0 126 धूमिल

"मैंने एक-एक को परख लिया है
मैंने हर एक को आवाज दी है
हर एक का दरवाजा खटखटाया है
मगर बेकार - - - - - - - -
मैंने जिसकी भी पूँछ उठाई है
उसको मादा पाया है।" - संसद से सड़क तक - पृ0 - 126 धूमिल।

साठोत्तरी लम्बी कविताओं की शृंखला काफी लम्बी है। उन सबका समीक्षात्मक परिचय दे पाना यहाँ सम्भव नहीं है। इस दौर की लम्बी कविताओं में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'कुआनो नदी', राजेश जोशी की 'सलीम और मैं और उनसठ का साल', मणिमधुकर की 'खण्ड-खण्ड-पाखण्ड पर्व', लीलाधर जगूड़ी की 'बलदेवखटिक बलदेव वंशी की 'उपनगर में वापसी', नीलाभ की 'संस्मरणारम्भ', विनोद शुक्ल की 'लगभग जयहिन्द', और रामदरश मिश्र की 'फिर वही लोग' प्रमुख हैं।

5- व्यंग्य विसंगतियों की उपज :

हिन्दी समीक्षा में 'व्यंग्य' शब्द का प्रयोग पाश्चात्य समीक्षा के 'सैटायर' शब्द के पर्याय के रूप में किया गया है। 'व्यंग्य' शब्द ताना, बोली, चुटकी आदि

अर्थों का वाहक है ।[1] व्यंग्य, शब्द का वह गूढ़ अर्थ है, जो उसकी व्यंजनावृत्ति द्वारा निकलता है । व्यंग्य, विचारों की साहित्यिक अभिव्यक्ति की एक प्रणाली है, जिसमें उपहास, कटाक्ष, हास्य, उक्तिवक्रता आदि के सहारे किसी व्यक्ति, व्यवस्था या संस्था की अनैतिकता एवं दुर्गुणों पर प्रहार किया जाता है । डॉ० वीरेन्द्र मेंहदी रत्ता के शब्दों में - "व्यंग्य मानव तथा जगत की मूर्खताओं तथा अनाचारों को प्रकाश में लाकर उनके उपहास्य अथवा घृणोत्पादक रूप पर आलोचनात्मक प्रहार करने में समर्थ एक साहित्यिक अभिव्यक्ति है । व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण साहित्यिक आक्रोश को व्यंग्य की संज्ञा दी जा सकती है ।"[2]

ए० निकल का मत है कि व्यंग्य लौकिकता या भौतिकता के विरुद्ध आक्रोश का भाव है । दया करुणा एवं उदारता का उसमें अभाव रहता है । वह व्यक्ति पर बड़ा तीखा प्रहार करता है । वह इतना कटु हो सकता है कि उसमें हास्य का लेश भी न हो ।[3] निष्कर्षतः व्यंग्य हास, उपहास, वक्रोक्ति, कटाक्ष तथा वाग्वैदग्ध्य - मिश्रित कथन प्रणाली है, जिसके द्वारा साहित्यकार, गद्यात्मक या काव्यात्मक ढंग से अपने परिवेश की विसंगतियों के प्रति अपनी अरुचि, आक्रोश, अस्वीकार, विरोध, रोष, विद्रोह आदि को व्यक्त करता है । जब साहित्यकार की चेतना की संगति अपने परिवेश से स्थापित नहीं हो पाती तो उसके मन में आक्रोश, रोष, विद्रोह, संत्रास आदि भाव उत्पन्न होते हैं । इन भावों को व्यक्त करने वाली भाषा या

1- संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर - पृ० 931, सं० रामचन्द्र वर्मा

2- आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग्य - पृ० 15, डॉ० मेंहदी रत्ता ।

3- साठोत्तरी हिन्दी कविता - परिवर्तित दिशाएँ, पृ० 181, विजय कुमार ।

कथन शैली में वक्रता एवं विदग्धता आ जाती है और यही व्यंग्य की स्थिति होती है ।

व्यंग्य हिन्दी कविता के लिए कोई नयी चीज नहीं है । सिद्धों नाथों की कविताओं, कबीर की साखी तथा सूर के भ्रमर गीत में इसका सफल प्रयोग देखा जा सकता है । हिन्दी की आदि कालीन कविता से लेकर समकालीन कविता तक व्यंग्य की परम्परा विद्यमान है । जहाँ तक साठोत्तरी कविता की बात है तो उसमें निहित व्यंग्य पूर्वकालीन कविताओं की अपेक्षा काफी तीखा एवं बहुआयामी है । व्यंग्यात्मकता इस दौर की कविता की एक विशेषता है । साठोत्तरी कविता का व्यंग्य परिवेशगत विसंगतियों की उपज होने के साथ-साथ कवियों के लिए एक कलागत आवश्यकता भी है । विजय कुमार के शब्दों में - "कई कवियों के यहाँ व्यंग्य इसलिए भी है, क्योंकि भाषा में जिस सपाटबयानी पर जोर दिया जा रहा था, उसमें नाटकीय प्रभाव पैदा करने के लिए वक्रोक्ति या विडम्बनाबोध का होना आवश्यक था ।"[1]

साठोत्तरी कविता के अन्तर्गत नागार्जुन की कविता में जो व्यंग्य,वक्रता या विडम्बनाबोध है, वह बड़बोलेपन से रहित,किन्तु तीखेपन से युक्त है । बिना झुंझलाहट एवं रोष के वे अपनी बात को व्यंग्यात्मक ढंग से बड़ी सहजता के साथ प्रस्तुत करते हैं । नेहरू के शासन पर उनका तीखा व्यंग्यात्मक सपाट बयान कुछ इस प्रकार है :

"गेरुवा पहनते जयप्रकाश नर्मदा किनारे बस जाते,
डांगे हो जाते राज्यपाल लोहिया जेल में कस जाते ।
गोपालन होते नजरबन्द राजाजी माथा कुटवाते,
जनसंघी अटल बिहारी जी भिक्षा की झोली फैलाते,

1- साठोत्तरी हिन्दी कविता : परिवर्तित दिशायें , पृ0 181, विजय कुमार ।

चौड़ा होता कुछ भाल और, तुम रह जाते दस साल और ।।
मिल वाले होते सोशलिस्ट, धनपतियों को लेनिन भाता,
माओ आकर मिलता तुमसे पेकिंग दिल्ली से शरमाता ।।" - नागार्जुन : -
चुनी हुई रचनायें भाग दो, पृ0 163-64

अपनी 'काली माई' कविता में नागार्जुन ने इन्दिरा गांधी पर व्यंग्य करते हुए लिखा है :

"कितना खून पिया है जाती नहीं खुमारी ।
कुछ और लम्बी है मइया जीभ तुम्हारी ।
कुकर्मा के लिए गरीबों पर निगाह है
धनपतियों के लिए दया की खुली राह है । -'प्यासी पथराई आंखें'-
पृ0 36, नागार्जुन ।

नागार्जुन के व्यंग्य की धार बड़ी तीखी है । वे अपने व्यंग्य के माध्यम से शोषकों के ऊपर उतनी ही बेरहमी से प्रहार करते हैं, जितनी बेरहमी से वे जनता का शोषण करते हैं । उनके सारे व्यंग्य प्राय: राजनीतिक व्यवस्था पर है । वे सामाजिक एवं आर्थिक विसंगतियों को भी राजनीति से अलग करके नहीं देखते, क्योंकि राजनीति का ही हर जगह दखल है । नागार्जुन की कविताओं के नाम भी प्राय: व्यंग्यात्मक हैं । यथा - काली माई, कब होगी इनकी दीवाली, हजार-हजार बाहों वाली, वे अन्दर से बांस करेंगे, आदि ।

केदारनाथ अग्रवाल की 'मार प्यार की थापें' तथा 'कहें केदार खरी-खरी' काव्य संग्रह की कविताओं में व्यंग्य की भरमार है । राजनेताओं की भाषणबाजी पर व्यंग्य करते हुए केदारनाथ अग्रवाल ने लिखा है :

"देश में लगी आग को
नकुआबी नेता
शब्दों से बुझाते हैं
वाग्धारा से

ऊसर को उर्वर
और देश को
आत्मनिर्भर बनाते हैं
लोकतन्त्र का शासन
भाषणतन्त्र से
चलाते है । - मार प्यार की थापें - पृ0 26

अपनी 'नेता' कविता में नेताओं पर तीखा व्यंग्य करते हुए बड़े सहज ढंग से कहते हैं :

"तुम्हारे पाँव
देवताओं के पाँव है
जो जमीन पर नहीं पड़ते
हम वन्दना करते हैं तुम्हारी
नेता ।" - 'कहें केदार खरी खरी', पृ0 142

रघुवीर सहाय की कविता में जो व्यंग्य है वह परिस्थितिजन्य करुणा के भाव से ओत-प्रोत है । मध्य वर्गीय जीवन की पीड़ा, विवशता एवं दैन्य को व्यक्त करने वाली उनकी व्यंग्यात्मकता का निम्न उदाहरण काफी मार्मिक है :

"घर में सब कुछ है जो औरतों को चाहिए
सीलन भी और अन्दर की कोठरी में पाँच सेर सोना भी,
और सन्तान भी जिसका जिगर बढ़ गया है
जिसे वह मासिक पत्रिकाओं पर हगाया करती हैं
और जमीन भी जिस पर हिन्दी भवन बनेगा ।" -'आत्महत्या के विरुद्ध'
पृ0 43

केदारनाथ सिंह ने "दो मिनट का मौन" कविता में वर्तमान शासन पर तीखा व्यंग्य किया है, जो अपने वायदों एवं शब्दों के माध्यम से जनता को गुमराह करता है और अपनी विगत असफलताओं पर परदा डालता रहता है । इस कविता

का शीर्षक अपने आप में व्यंग्यात्मक है :

"इस महान शताब्दी पर
इस महान शताब्दी के
महान इरादों पर
महान शब्दों
और महान वायदों पर दो मिनट का मौन ।" -'यहाँ से देखो',पृ0 15

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने निम्न कविता में देश की प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था पर तीखा हमला किया है । अपनी व्यंग्यात्मक भाषा के माध्यम से उन्होंने इस व्यवस्था की असलियत को पूरी सच्चाई से खोला है । उनकी दृष्टि में यह तन्त्र ढोंग एवं विश्वासघात से युक्त है । प्रजातन्त्र तो'लाठी में लटके जूते की तरह है :

"झाँकियाँ निकलती है ढोंग की विश्वासघात की
बदबू आती है हर बार
एक मरी बात की
लोकतन्त्र को जूते की तरह लाठी में लटकाये
भागे जा रहे सभी
सीना फुलाये ।" -'गर्म हवाएँ' - पृ0 17

देश में घटने वाली दुर्घटना, एवं बदहाली का मूल कारण स्वयं होते हुए भी दूसरे तत्वों को उसके लिए उत्तरदायी ठहराने की शासन की प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए अरुण कमल लिखते हैं :

"सरकार ने कहा
कारखाने में गोली चली उसमें
ट्रेड यूनियन का हाथ है
मारे गये मुसहर उसमें भी
किसान सभाओं का हाथ है

विद्यार्थियों के हंगामों में
छात्र संगठनों का हाथ है
और राज्य में जो गड़बड़ी है
सब में कम्युनिस्टों का हाथ है
हुजूर ने ठीक फरमाया
इस दुनिया के पीछे भी ईश्वर का हाथ है ।" -'अपनी केवल धार',पृ0 29,
अरुण कमल ।

गोरख पाण्डेय, साम्प्रदायिकता एवं जातीयता के आधार पर खून,कत्ल या दंगा कराके वोट की राजनीति करने वाले राजनेताओं पर तीखा व्यंग्य करते हुए लिखते हैं :

"इस बार दंगा बहुत बड़ा था
खूब हुई थी खून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल
मतदान की ।" -'जागते रहो सोने वालों'- पृ0 3, दंगा,गोरख पाण्डेय ।

साठोत्तर कवियों में धूमिल का व्यंग्य अपेक्षाकृत अधिक तीखा है । उनके व्यंग्य में उनका परिवेश सारी विसंगतियों के साथ उपस्थित दिखायी पड़ता है । व्यंग्य के पैनेपन के चलते उनकी भाषा चुस्त एवं मुहावरेदार हो गयी है । धूमिल की कविता'मोचीराम' में व्यंग्य की तीक्ष्णता बड़ी आकर्षक है :

"बाबू जी ! सच कहूँ - मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने

धूमिल ने अपने काव्य संग्रह 'कल सुनना मुझे' में देश की बदहाली पर व्यंग्य करते हुए कहा है :

"प्रेम में असफल छात्रायें
अध्यापिकाएँ बन गयी हैं
और रिटायर्ड बूढ़े
सर्वोदयी
आदमी की सबसे अच्छी नस्ल
युद्धों में नष्ट हो गयी
देश का सबसे अच्छा स्वास्थ्य
विद्यालयों में
संक्रामक रोग से ग्रस्त है।" -'कल सुनना मुझे' - पृ0 29, एक कविता : कुछ सूचनाएँ ।

जगूड़ी ने भी धूमिल की ही तरह सूक्ति रचना एवं मुहावरेबाजी के माध्यम से अपने व्यंग्यों में पैनापन लाने का प्रयास किया है । उनके काव्य संग्रह -'नाटक जारी है', तथा 'रात अभी मौजूद है' - की कविताओं में प्राय: व्यंग्यात्मकता विद्यमान है । नेताओं की गतिविधि पर व्यंग्य करते हुए लीलाधर जगूड़ी ने लिखा है :

"नेता इस देश का सही तर्क है
जहाँ पर सब का बेड़ा गर्क है वह महान है
उसके कन्धे पर देश है
और जेब में कोई केश है
उसकी एक ही आदत है
कि आज भी और कल भी उनका कहीं स्वागत है
उनके सभी काम देश के काम है
याने वे देश खाते है
- - - - - - - -

देश का पेशाब करते हैं
वे देश का क्या नहीं करते ?
सिक्का बदल बदल कर देश का सही हिसाब करते हैं ।" -'नाटक जारी है'
पृ0 97, लीलाधर जगूड़ी

इस प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था में नेता वर्ग किस तरह से पूँजीवादी शक्तियों से हाथ मिलाये हुए हैं तथा संसद तक किस तरह पूँजीपतियों का प्रवेश है - इसी तथ्य को व्यंग्यात्मक शैली में व्यक्त करते हुए उदय प्रकाश कहते हैं :

"महापुरुष की धोती का
एक छोर
नगर सेठ की तिजोरी में है
दूसरा संसद की कुर्सी में ।" -'सुनो कारीगर' पृ0 71, उदय प्रकाश ।

निष्कर्षतः व्यंग्य साठोत्तरी कविता की भाषा की एक अनिवार्य विशेषता है । भाषा की व्यंग्यात्मकता ने परिवेश की विसंगतियों को प्रभावपूर्ण ढंग से बयान करने में कवियों को पूरा सहयोग दिया है ।

उपसंहार

विद्रोह किसी व्यवस्था को अस्वीकार करने तथा उसे नष्ट करने की मनः - स्थिति का क्रियात्मक रूप है । किसी व्यवस्था में विद्यमान अनैतिकता, अतार्किकता एवं अनुपयुक्तता के कारण, उस व्यवस्था के प्रति मन में असन्तोष उत्पन्न होता है और उससे मोहभंग हो जाता है । अतः व्यक्ति उस व्यवस्था को अस्वीकार करने, उसे नष्ट करने तथा उसके स्थान पर एक नयी व्यवस्था स्थापित करने का मन बनाता है । यही मनः स्थिति विद्रोह का सूक्ष्म एवं अव्यक्त रूप है । जब इसका प्रस्फुटन गतिविधि या क्रियाविधि के रूप में होता है, तो विद्रोह मूर्त रूप धारण करता है । विद्रोह की मनः स्थिति साहित्य, भाषण, सशस्त्र संघर्ष आदि किसी भी रूप में प्रकट हो सकती है । विद्रोह-आक्रोश, प्रतिक्रिया एवं क्रान्ति से भिन्न है । आक्रोश आक्रम्य तत्त्व के प्रति एक प्रकार की झुंझलाहट एवं बड़बड़ाहट है, जबकि विद्रोह आक्रम्य तत्त्व को उखाड़ फेंकने की कार्यवाही है । 'प्रतिक्रिया' किसी कार्य का उल्टा कार्य' या किसी कार्य के 'विपरीत कार्य' है, लेकिन विद्रोह अनौचित्य के आधार पर किसी कार्य या कार्यप्रणाली को नष्ट करके उसके स्थान पर औचित्या - धारित कार्यप्रणाली की स्थापना का प्रयास है । विद्रोह किसी व्यवस्था में उत्पन्न होती रहने वाली असंगतियों के विरुद्ध निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, जबकि क्रान्ति किसी व्यवस्था में आमूल परिवर्तन है ।

विद्रोह के दो कारण होते हैं - आन्तरिक एवं बाह्य । दोनों कारणों के पारस्परिक संयोग एवं सहयोग के बिना विद्रोह सम्भव नहीं होता है । बाह्य कारण से तात्पर्य राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सांस्कृतिक विसंगतियों से है, जबकि आन्तरिक कारण से तात्पर्य व्यक्ति की वैचारिक प्रगतिशीलता से है, जिसे आधुनिक

बोध, परिवेश बोध या वर्तमान बोध भी कह सकते हैं । बिना वैचारिक प्रगतिशीलता के व्यक्ति किसी भी विसंगति के विरूद्ध विद्रोह नहीं कर सकता । विद्रोह की सार्थकता उसके बहुजन हिताय या लोकमंगलकारी होने में है । स्वार्थप्रेरित विद्रोह तो अराजकता एवं उच्छृंखलता है । साहित्य या कविता में निहित विद्रोह वैचारिक होता है । यह अलग बात है कि सशस्त्र विद्रोह के लिए वह प्रेरणा स्रोत बन जाय । साहित्य में विद्रोह की अभिव्यक्ति 'यथार्थचित्रण', 'अस्वीकार की भावना', 'विध्वंस की उत्तेजना', एवं 'नवनिर्माण की प्रेरणा' के रूप में होती है ।

हिन्दी कविता में प्रगतिशील विचारों का प्रस्फुटन सर्वप्रथम सिद्धों एवं नाथों की कविता में हुआ है और यही कारण है कि हमें हिन्दी कविता में विद्रोह का स्वर भी सर्वप्रथम सिद्धों एवं नाथों की कविता में ही सुनाई पड़ता है । इन कवियों का विद्रोह तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक-आडम्बर, ब्राह्मणवाद, छुआ-छूत एवं वर्ण-भेद तक ही सीमित है ।

दक्षिण भारत में आलवार भक्तों द्वारा शुरू किये गये भक्ति - आन्दोलन का स्वर भी विद्रोही है । उसने भक्ति एवं साधना के स्तर पर जाति-भेद एवं स्त्री - पुरूषगत अन्तर के विरूद्ध आवाज उठाई है । रामानन्द के नेतृत्व में उत्तर भारत में आकर यह भक्ति आन्दोलन अपेक्षाकृत अधिक विद्रोही हो गया है । हिन्दी भक्ति-काव्य रामानन्द के भक्ति-आन्दोलन की देन है । हिन्दी भक्ति काव्य में धार्मिक - आडम्बर, जातिगत भेद-भाव, स्त्रियों पर थोपी जाने वाली खोखली मर्यादाओं के विरूद्ध विद्रोह विद्यमान है । उसका यह विद्रोह मात्र भक्ति एवं उपासना के स्तर तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह सामाजिक स्तर तक व्याप्त है । कबीर एवं मीरा के काव्य में विद्रोह का स्वर प्रखर एवं मुखर है, जबकि वह सूर एवं तुलसी की कविताओं

में प्रच्छन्न है । रीतिकालीन कविता में विद्रोही स्वर लुप्त है । इसका कारण, कवियों का सामन्ती मूल्यों के पोषकों के आश्रित हो जाना है । वीर रस की कविताएँ प्रशस्ति परक हैं, विद्रोह परक नहीं । रीतिमुक्त कवियों का विद्रोह प्रणय स्वच्छन्दता की सुविधा तक है और उसमें वेदना एवं पीड़ा की अधिकता है ।

विद्रोह का जो स्वर रीतिकाल में लुप्त हो गया था, वह पुनर्जागरण के प्रभाव के कारण आधुनिक हिन्दी कविता में जागृत हो उठा । पुनर्जागरण का स्वर विद्रोही रहा है । धार्मिक-सामाजिक स्तर पर उसने हिन्दू धर्म एवं समाज की कुरीतियों के विरूद्ध विद्रोह किया है और राजनीतिक - आर्थिक स्तर पर उसका विद्रोह साम्राज्यवादी - पूँजीवादी ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध रहा है । हिन्दी साहित्य का भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग एवं छायावाद पुनर्जागरण से प्रभावित है । अतः इन युगों की कविताओं में उसके विद्रोही चिन्तन की साहित्यिक अभिव्यक्ति हुई है । भारतेन्दुयुगीन कविता में निहित राजनीतिक विद्रोह ब्रिटिश मुकुट के प्रति भक्ति के कारण आरम्भ में अन्तर्विरोधग्रस्त है । लेकिन जैसे-जैसे ब्रिटिश मुकुट से मोहभंग होता गया है, वैसे-वैसे विद्रोह स्पष्ट एवं तीखा होता गया है । द्विवेदी युगीन कविता में निहित राजनीतिक एवं आर्थिक विद्रोह उस समय ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध चल रही आतंकवादी एवं उग्रवादी गतिविधियों के चलते काफी तीखा है । छायावादी कविता में भी ब्रिटिश सत्ता के विरूद्ध विद्रोह है, लेकिन वह गाँधी के सत्य-अहिंसा एवं सत्याग्रह के प्रभाव के कारण कम मुखर है । भारतेन्दु युगीन एवं द्विवेदी युगीन कविता में धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों के विरूद्ध किया गया विद्रोह सुधारात्मक एवं सामूहिक है, लेकिन छायावादी कविता का यह विद्रोह आमूल परिवर्तन की भावना एवं बहुत कुछ वैयक्तिकता एवं स्वच्छन्दता की चेतना से युक्त है । छायावादी कविता में ब्रिटिश

अर्थतन्त्र के प्रति तो विद्रोह किया ही है, लेकिन इस युग के उत्तरार्द्ध की कविताओं में किसी भी पूँजीवादी तन्त्र के द्वारा देश की जनता के किये जाने वाले शोषण के विरूद्ध भी विद्रोह के स्वर विद्यमान है । छायावाद के उत्तरार्द्ध में पूँजीवादी अर्थतन्त्र के विरूद्ध पनपा विद्रोह प्रगतिवादी कविता का मुख्य स्वर बना है ।

प्रगतिवादी कविता मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित है । इस कविता ने शोषण को सारी विसंगतियों—(राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक - सांस्कृतिक)की जड़ मानते हुए अपना विद्रोह प्रकट किया है । इस काव्यधारा का विद्रोह आमूल - परिवर्तन की चेतना एवं सामूहिकता की भावना से युक्त है । प्रयोगवाद की जनवादी काव्यधारा का विद्रोह जनसामान्य के हित की भावना से प्रेरित है, जबकि इसकी व्यक्तिवादी काव्यधारा का विद्रोह आत्मरक्षा एवं आत्महित की भावना से युक्त है ।

नयी कविता स्वातन्त्र्योत्तर कविता है । इसमें निहित विद्रोह राजनैतिक एवं आर्थिक स्तर पर किसी विदेशी व्यवस्था के विरूद्ध न होकर स्वदेशी व्यवस्था के विरूद्ध है । जहाँ तक इस कविता के सामाजिक - सांस्कृतिक विद्रोह का प्रश्न है, तो वह भारतीय समाज एवं संस्कृति की परम्परागत रूढ़ियों के प्रति है । साठोत्तरी कविता का विद्रोही चिन्तन नयी कविता के विद्रोही चिन्तन का विकास है । नयी कविता का विद्रोह साठोत्तरी कविता की अपेक्षा कम प्रखर एवं मुखर है । इसका कारण, नयी कविता के कवियों में भारतीय व्यवस्था के प्रति मोह का कुछ- न - कुछ बना रहना है । जबकि साठोत्तर कवियों का मोह भारतीय व्यवस्था से पूर्णतः भंग हो गया है । सच्चाई यह है कि नयी कविता में जो विद्रोह कसमसा रहा था, वह साठोत्तरी कविता में अँगड़ाई लेने लगा है ।

स्वतन्त्रता एवं स्वदेशी सत्ता से देश की जनता को बड़ी उम्मीद थी । लेकिन स्वतन्त्रता के बाद देश में स्थापित कांग्रेस सरकार ने जनता की उम्मीदों पर पानी फेर

दिया। उसका समाजवाद का नारा, बस नारे तक ही सीमित रहा। जनता को देश में समाजवादी सुधारों की एक झलक भी नहीं दिखाई पड़ी। न गरीबी का दृश्य बदला और न आर्थिक विषमता में कमी आयी। आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक न्याय की बात संविधान की पोथी में दबी रही, उस पर अमल नहीं किया गया। भारतीय राजनीति का तेजी से चारित्रिक पतन हुआ। राजनीति का अपराधीकरण हुआ। घूसखोरी, कमीशनखोरी, घोटालेबाजी, दलबदल आदि जन - प्रतिनिधियों के चरित्र बन गये। फलतः सर्वत्र अराजकता एवं अन्याय की स्थिति उत्पन्न होती गयी और जनता को राजनीतिक एवं प्रशासनिक संस्थायें (संसद, संविधान, प्रजातन्त्र, समाजवाद, नेता, अधिकारी आदि) निरर्थक साबित हो गयी। गरीबी का ग्राफ ऊपर उठता गया, आर्थिक विषमता की खाई चौड़ी होती गयी और बेरोजगारों की संख्या बढ़ती चली गयी। स्वतन्त्र होकर भी शोषित होते रहना जनता की नियति बनी रही। इन सारी जटिल परिस्थितियों के चलते 1960 तक पहुँचते - पहुँचते जनता का शासन से मोहभंग हो गया। उसने जहाँ मतदान के माध्यम से कांग्रेस को नकारना शुरू किया, वहीं उसने कांग्रेसी शासन के विरुद्ध विद्रोह एवं आन्दोलन भी शुरू किया। 1960 के बाद तो ऐसे आन्दोलनों की एक शृंखला है। जैसे 1967 का नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह, 1973 का उ0 प्र0 का पी0 ए0 सी0 विद्रोह, 1974 का जयप्रकाश का युवा आन्दोलन आदि।

स्वतन्त्रता के बाद, औद्योगीकरण एवं शिक्षा के प्रसार के कारण जो सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन शुरू हुआ, उसका प्रभाव छठें दशक के बाद एकदम स्पष्ट हो गया। जनसंख्या का नगरोन्मुख पलायन हुआ, परिवार विखण्डित हुए, लोगों का वैयक्तिक विखण्डन हुआ, यौन सम्बन्धों की परम्परागत सीमायें टूटी, अश्लीलता को फैशन के रूप में स्वीकार किया गया और ईश्वर एवं धर्मविषयक पारम्परिक सोच को झटका

उत्पन्न हुई । इन्हीं राजनीतिक, आर्थिक, एवं सामाजिक-सांस्कृतिक विसंगतियों के कारण साठोत्तरी कविता में विद्रोह का स्वर पनपा और वह इतना तीखा हो गया कि उसे इस दौरे की कविता को एक खास विशेषता के रूप में स्वीकृति मिली ।

यद्यपि इस कविता ने स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक-सांस्कृतिक आदि सारी विसंगतियों के प्रति विद्रोही रुख अख्तियार किया है, लेकिन राजनीति पर इस कविता की विद्रोही दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक केन्द्रित है । यही कारण है कि सामान्यत: साठोत्तरी कविता का विद्रोह राजनीतिक विद्रोह का पर्याय बन गया है । साठोत्तर कवियों ने इस तथ्य को भली-भांति समझ लिया था कि आज की स्थिति में राजनीति जीवन के मूल में है । जीवन के हर क्षेत्र की विसंगति प्राय: राजनीतिक धोखाधड़ी का परिणाम है । राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक न्याय राजनेताओं की भ्रष्टता के कारण आम आदमी से दूर है

इस कविता ने जहाँ एक ओर शासन या राजनीति के जनविरोधी कृत्यों के खिलाफ समय-समय पर उठ खड़े हुए जनान्दोलनों एवं जनविद्रोहों— जैसे नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह, जयप्रकाश नारायण की युवा क्रान्ति आदि, के स्वर से स्वर मिला कर अपनी विद्रोही चेतना को अभिव्यक्त किया है, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक एवं प्रशासनिक परिदृश्यों की यथार्थ तस्वीर खींच कर भी अपने विद्रोही चिन्तन को स्पष्ट किया है । इस कविता ने स्वतन्त्रता, संविधान, संसद, नेता, प्रजातन्त्र, समाजवाद, चुनाव आदि के उन सारे ढोंगों एवं छद्म रूपों का पर्दाफाश किया है, जिनकी आड़ में आम जनता का शोषण हो रहा है । इस कविता का विद्रोह मात्र व्यवस्था के छद्म स्वरूप के यथार्थ-चित्रण तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह कविता इस जनविरोधी शोषक राजनीतिक तन्त्र को उखाड़ फेंकने का दम भरती है और जनता से इसके विरुद्ध

सीधी कार्यवाही की बात करती है । आर्थिक विसंगतियों के प्रति इस कविता ने जो स्वर उठाया है, उसमें भी राजनीति एवं शासन व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह की अनुगूंज है । कारण, देश की जनता की आर्थिक बदहाली एवं उसके शोषण के लिए व्यवस्था ही दोषी है । सच्चाई तो यह है कि साठोत्तरी कविता का राजनीति के प्रति सारा विद्रोह, राजनीति की दुश्चरित्रता के फलस्वरूप उत्पन्न शोषण, अन्याय एवं आर्थिक विसंगतियों का परिणाम है । साठोत्तरी कविता ने स्वतन्त्र एवं गणतन्त्र भारत में पनपने वाली गरीबी, भुखमरी एवं आर्थिक शोषण की प्रक्रिया का खुलासा करके स्वतन्त्रता एवं गणतन्त्रात्मक व्यवस्था को ही आड़े हाथ लिया है ।

साठोत्तरी कविता ने व्यक्ति के स्वच्छन्द विकास में बाधक समाज-संस्कृति की पारम्परिक मान्यताओं, जैसे सामन्ती मूल्य, नारी विषयक पारम्परिक दृष्टिकोण, धर्म एवं ईश्वर विषयक अंध विश्वास, विवाह एवं यौन सम्बन्ध की पारम्परिक मर्यादा आदि, पर तीखी चोट की है । इस कविता ने यान्त्रिक एवं अर्थप्रधान नगरीय संस्कृति पर भी चोट की है, जहाँ आम आदमी कुण्ठा, अकेलापन, अवमानना आदि मनोभावों के बीच जिन्दा है ।

साठोत्तरी कविता का विद्रोह बड़ा तीखा, स्पष्ट एवं व्यापक है । वह प्राय: व्यंग्य, अस्वीकार एवं विध्वंस के रूप में व्यक्त हुआ है । साठोत्तरी कविता का विद्रोह दिग्भ्रमित भी हुआ है । बहुत सारे कवि ऐसे भी हैं, जिन्होंने विद्रोह को फैशन के तौर पर अपनाकर अपनी पहचान बनाने का प्रयास किया है । व्यवस्था की अनैतिकता एवं अप्रासंगिकता पर चोट करने के प्रयास में वे स्वयं अनैतिक एवं अप्रासंगिक हो गये हैं । यौन शब्दावलियों एवं यौनबिम्बों को हठपूर्वक अपनाकर उन्होंने कविता को कुरूप कर दिया है ।

साठोत्तर कवियों ने समकालीन परिवेश की जटिलताओं एवं विसंगतियों के कारण अपने मन में पनपे आक्रोश एवं विद्रोह की सफल अभिव्यक्ति में बाधक काव्य के परम्परागत प्रतिमानों को विघटित करके नये प्रतिमानों को सृजित किया है । उन्होंने काव्य-भाषा के अभिजात्य एवं आडम्बरपूर्ण स्वरूप को नकार कर उसका सहज एवं नंगा स्वरूप प्रस्तुत किया है, जिसमें सारे विचार स्पष्ट रूप से झलकते हैं । उन्होंने सारी वर्जनाओं का परित्याग करके सामाजिक स्तर पर अश्लील समझे जाने वाले शब्दों का बेहिचक प्रयोग किया है । कारण, श्लील समझे जाने वाले शब्द आक्रोश एवं विद्रोह जैसे भावों को उतनी सघनता के साथ नहीं व्यक्त कर सकते, जितनी सघनता से इन भावों को श्लील शब्द व्यक्त कर सकते हैं । जहाँ अश्लील शब्दों का सायास प्रयोग हुआ है वहाँ कविता काफी कुरूप हो गयी है । साठोत्तरी कविता की भाषा गद्य के निकट है और उसमें जनभाषा के शब्दों की प्रचुरता है ।

साठोत्तरी कवियों ने कविता को बिम्बों के दबाव एवं घुटन से मुक्त करके 'सपाटबयानी' के उन्मुक्त वातावरण में श्वास लेने का अवसर दिया है । उन्होंने बिम्ब को काव्यप्रतिमान' की श्रेणी से खींच कर बाहर फेंक दिया है और सपाटबयानी को उसके विकल्प के रूप में अपनाया है । इसका कारण, बिम्बों का विचारों की सहज एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति में बाधक होना है । साठोत्तर कवियों का विद्रोह 'बिम्ब' से नहीं 'बिम्बवादिता से है ।

यद्यपि साठोत्तर कवियों ने छोटी कवितायें भी लिखी है, लेकिन उन्होंने अपने वैचारिक तनावों की अभिव्यक्ति के लिए 'लम्बी कविता' को ही साधन बनाया है । लम्बी कविता उनकी रचनात्मक आवश्यकता है । कारण, 'छोटी कविता' तनाव युक्त लम्बे विचारों को ढो सकने में अक्षम है और आख्यान एवं चरित्र को ढोने वाले इतिवृत्त या प्रबन्ध तनावयुक्त विचारों के अनुकूल नहीं है । साठोत्तरी कविता का व्यंग्य परिवेश की विसंगतियों की उपज है, जिसके माध्यम से यह कविता विद्रोह की सही अभिव्यक्ति में सफल हुई है।

परिशिष्ट

ग्रन्थ-सूची

काव्य - ग्रन्थ

कबीर ग्रंथावली - प्र० सं० - भगवत स्वरूप मिश्र - विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

कबीर ग्रंथावली - प्र० सं० - पारसनाथ तिवारी - प्रयाग हिन्दी परि० वि०

कबीर समग्र - तृ० सं० - प्रो० युगेश्वर - हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा० लि० पिशाच मोचन, वाराणसी

कबीर ग्रंथावी - प्र० सं० - स - - नागरी प्रचारिणी सभा

मीरा पदावली - प्र० सं० - सं० परशुराम चतुर्वेदी - हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

कवितावली - - तुलसीदास - गीता प्रेस

रामचरित मानस - तुलसीदास - गीता प्रेस

भारतेन्दु नाटकवली-प्र०सं० - - इण्डियन प्रेस इलाहाबाद

प्रेमघनसर्वस्व - भाग एक -प्र०सं० - हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग

लोकोक्तिशतक - प्रताप नारायण मिश्र -

भारत भारती - प्र० सं० - मैथिलीशरण गुप्त - साहित्य सदन झांसी

हिन्दू - प्र० सं० - मैथिलीशरण गुप्त - साहित्य सदन झांसी

त्रिशूल तरंग - कवि त्रिशूल

स्वतन्त्रता की झंकार - हरिराम पुजारी

जागृत भारत - माधव शुक्ल - जी० वी० शुक्ल कलकत्ता

भारत विनय - श्याम बिहारी मिश्र - वेलवेडियर प्रेस प्रयाग

अपरा - सातवा सं० - निराला - भारती भण्डार प्रयाग

परिमल - निराला - गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ

राग विराग - सोलहवाँ सं० - रामविलास शर्मा -लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

ग्राम्या - पंत - भारती भण्डार प्रयाग

युगपथ - पंत - भारती भंडार लीडर प्रेस आगरा

स्कन्द गुप्त - सं० 1998 - प्रसाद - लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद

नवीन - गोपालसिंह नेपाली -

जीवन के गान - शिवमंगल सिंह सुमन

प्रलय सृजन - शिवमंगल सिंह सुमन - प्रदीप कार्यालय मुरादाबाद

धरती प्र० सं० - त्रिलोचन - नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद

मधूलिका - अंचल

प्रभात फेरी - नरेन्द्र शर्मा

तार सप्तक -चतुर्थ सं० - सं० अज्ञेय - भारतीय ज्ञानपीठ

दूसरा सप्तक - प्र० सं० - सं० अज्ञेय - भारतीय ज्ञानपीठ

तीसरा सप्तक तृ० सं० - सं० अज्ञेय - भारतीय ज्ञानपीठ

चौथा सप्तक - सं० अज्ञेय

अर्ध विराम - प्र० सं० - मुनि रूपचन्द - आदर्श साहित्य संघ चुरू० राजस्थान

चाँद का मुँह टेढ़ा - प्र०सं० - मुक्तिबोध - भारतीय ज्ञानपीठ

आत्म निर्वासित एवं अन्य कविताएँ प्र०सं० - राजीव सक्सेना -राजकमल प्रकाशन दिल्ली

ये सपने ये प्रेत - प्र० सं० - रणजीत नवयुग ग्रंथ कुटी बीकानेर

प्यासी पथराई आँखें - नागार्जुन - अनामिका प्रकाशन इलाहाबाद

तालाब की मछलियाँ - नागार्जुन -

सम्पूर्ण कविताएं : नागार्जुन पं०सं० की चुनी हुई रचनाएं भाग 2- वाणी प्रकाशन दिल्ली

तुमने कहा था, प्र0 सं0 – नागार्जुन – वाणी प्रकाशन दिल्ली

खिचड़ी विप्लव देखा हमने, प्र0सं0 – नागार्जुन – सम्भावना प्रकाशन हापुड़

हजार-हजार बाहों वाली, प्र0सं0 – नागार्जुन – राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

पुरानी जूतियों का कोरस, प्र0सं0 – नागार्जुन – वाणी प्रकाशन दिल्ली

रत्नगर्भा, प्र0 सं0 नागार्जुन – वाणी प्रकाशन दिल्ली

ऐसे भी हम क्या, ऐसे भी तुम क्या, प्र0सं0 – नागार्जुन – वाणी प्रकाशन दिल्ली

इतने पास अपने, प्र0 सं0 – शमशेर बहादुर सिंह – राजकमल प्रकाशन दिल्ली

कुछ भी हूं मैं नहीं, प्र0 सं0 – शमशेर बहादुर सिंह – राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

बात बोलेगी, प्र0 सं0 – शमशेर बहादुर सिंह – सम्भावना प्रकाशन हापुड़

कहें केदार खरी-खरी – केदारनाथ अग्रवाल – परिमल प्रकाशन इ0 बा0

फूल नहीं रंग बोलते हैं, वी0 सं0 – . . . .

हे मेरी तुम . . . .

मार प्यार की थापें . . . .

आग का आइना . . . .

पंख और पतवार . . . .

ताप के तये हुए दिन, प्र0सं0 – त्रिलोचन – संभावना प्रकाशन हापुड़

तुम्हें सौंपता हूं, प्र0 सं0 – त्रिलोचन – राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

उस जनपद का कवि हूं, प्र0सं0 – त्रिलोचन – राधाकृष्ण प्रकाशन

एक सूनी नाव, प्र0सं0 – सर्वेश्वरदयाल सक्सेना – अक्षर प्रकाशन दिल्ली

गर्म हवाएं, प्र0सं0 – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

कुआनो नदी, प्र0 सं0 – सर्वेश्वर दयाल सक्सेना – राजकमल प्रकाशन दिल्ली

जंगल का दर्द, प्र0 सं0 - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - राजकमल प्रकाशन दिल्ली

खूटियों पर टंगे लोग, प्र0सं0 - सर्वेश्वर दयाल सक्सेना - राजकमल प्रकाशन दिल्ली

यहाँ से देखो, प्र0 सं0 - केदारनाथ सिंह - राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

केदारनाथ सिंह : प्रतिनिधि कविताएं, प्र0सं0 - राजकमल प्रकाशन दिल्ली

जमीन पक रही है, प्र0सं0 - केदारनाथ सिंह - प्रकाशन संस्थान दिल्ली

आत्म हत्या के विरुद्ध, प्र0सं0 - रघुवीर सहाय - राजकमल प्रकाशन पटना

हँसो जल्दी हँसो, प्र0सं0 - रघुवीर सहाय - नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

सीढ़ियों पर धूप में - रघुवीर सहाय - भारतीय ज्ञानपीठ काशी

संसद से सड़क तक, पाँचवा सं0 - धूमिल राजकमल प्रकाशन दिल्ली, पटना

सुदामा पाण्डेय का प्रजातन्त्र, प्र0सं0 धूमिल - वाणी प्रकाशन दिल्ली

कल सुनना मुझे - धूमिल - वाणी प्रकाशन

नाटक जारी है, प्र0 सं0 - लीलाधर जगूड़ी - अमर प्रकाशन दिल्ली

इस यात्रा में, प्र0सं0 - जगूड़ी - साहित्य भारती दिल्ली

रात अभी मौजूद है, प्र0सं0 - जगूड़ी - इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली

बची हुई पृथ्वी - जगूड़ी - राज कमल प्रकाशन दिल्ली

घबराये हुए शब्द - जगूड़ी - राजकमल प्रकाशन

एक छोटी सी लड़ाई, प्र0सं0 - कुमार विकल - सम्भावना प्रकाशन हापुड़

रंग खतरे में है, प्र0सं0 - कुमार विकल - चित्रलेखा प्रकाशन सोहबतिया बाग, इलाहाबाद

वे हाथ होते - वेणु गोपाल -

अपनी केवल धार, प्र0सं0 - अरुण कमल - वाणी प्रकाशन दिल्ली

माया दर्पण, प्र0 सं0 - श्रीकान्त वर्मा - ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी

जागते रहो सोने वालो, प्र०सं० गोरख पाण्डेय - राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

देहान्त से हट कर, प्र०सं० - कैलाश वाजपेयी - अक्षर प्रकाशन दिल्ली

सुनो कारीगर, प्र०सं० - उदय प्रकाश - सम्भावना प्रकाशन हापुड़

अबूतर - कबूतर, प्र०सं० - उदय प्रकाश - राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

शहर अब भी सम्भावना है, प्र०सं० - अशोक वाजपेयी - भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी

फिलहाल, प्र०सं० - अशोक वाजपेयी - राजकमल प्रकाशन दिल्ली

मिट्टी बोलती है, प्र० सं० - रमेश रंजक - अक्षर प्रकाशन दिल्ली

सुबह होने से पहले - सव्यसाची

मुक्ति प्रसंग - राजकमल चौधरी - वाणी प्रकाशन दिल्ली

मछली मरी हुई - राजकमल चौधरी - राजकमल प्रकाशन दिल्ली

प्रगतिशील कविता के मील पत्थर, सं० 1985, सम्पा० डॉ० रणजीत - लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद

साये में धूप, सं० ग्यारहवाँ - दुष्यन्त कुमार - राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

आलोचनात्मक तथा अन्य ग्रन्थ

अकविता और कला संदर्भ, प्र०सं० श्याम परमार - कृष्ण ब्रदर्श अजमेर

अस्तित्ववाद : कीर्केगार्द से कामू तक - योगेन्द्र शाही - दि मैकमिलन कं० आफ इण्डिया लि० दिल्ली

आधुनिक परिवेश और नव लेखन, प्र०सं० - डॉ० शिव प्रसाद सिंह - लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

आधुनिक भारत का इतिहास, सातवाँ सं० -ग्रोवर - एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि० रामनगर नयी दिल्ली, 110055

आधुनिक भारत एल०पी० शर्मा -

आदिकालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पीठिका, प्र०सं० - डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी - म०प्र० हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल

आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, सं0 1987 - डॉ0 नामवर सिंह - लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

आधुनिक बोध और विद्रोह, प्र0सं0 - डॉ0 हरदयाल - राजेश प्रकाशन दिल्ली

आधुनिक हिन्दी काव्य-भाषा, प्र0सं0 - रामकुमार सिंह - ग्रंथम कानपुर

आधुनिक कविता के नये मूल्य, प्र0सं0 - डॉ0 महेन्द्र कार्तिकेय - विद्याप्रकाशन मंदिर दिल्ली

आज की कविता - सं0 प्रभात मित्तल

आधुनिक हिन्दी साहित्य में व्यंग्य - डॉ0 मेंहदी रत्ता

आधुनिक परिवेश और अस्तित्ववाद , प्र0सं0 - डॉ0 शिव प्रसाद सिंह - नेशनल पब्लि0 हाउस दिल्ली

कबीर पाँचवा सं0 - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - राजकमल प्रका0 दिल्ली

कविता के नये प्रतिमान - डॉ0 नामवर सिंह - राजकमल प्रकाशन दिल्ली

कविता से साक्षात्कार, प्र0सं0 - मलयज - सम्भावना प्रकाशन हापुड़

काव्यात्मक बिम्ब, प्र0सं0 - ब्रजनन्द प्रसाद अबौरी - ज्ञान लोक पटना

कविता की वैचारिक भूमि, प्र0 सं0 - नरेन्द्र मोहन - इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली

काव्य बिम्ब, प्र0सं0 - डॉ0 नगेन्द्र - नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली

छायावाद, पाँचवा सं0 - डॉ0 नामवर सिंह - राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली

दिनकर एक पुनर्मूल्यांकन - प्र0सं0 -डॉ0 विजयेन्द्र नारायण सिंह - परिमल प्रका0 इला0

द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं0सं0 - वार्ष्णेय - राजपाल एण्ड संस दिल्ली

धूमिल : काव्य यात्रा, प्र0सं0 - प्रो0 मंजु अग्रवाल - ग्रंथम् रामबाग कानपुर

धूमिल और उनका काव्य संघर्ष,प्र0सं0 - डॉ0 ब्रह्मदेव मिश्र - लोकभारती प्रका0 इलाहाबा

नयी कविता के बाद, पं0 सं0 - डॉ0 ओम प्रकाश अवस्थी - पुस्तक सदन कानपुर

नयी कविता : उद्भव और विकास, प्र0सं0 - रामवचन राय - बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना

नयी कवितायें एक साक्ष्य, प्र०सं० - डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - लोभारती इलाहाबाद

परम्परा का मूल्यांकन, प्र०सं० - डॉ० रामविलास शर्मा - राजकमल प्रकाशन दिल्ली

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, द्वि० सं० - डॉ० शान्ति स्वरूप गुप्त - अशोक प्रकाशन नयी सड़क दिल्ली

प्रयोगवाद और नयी कविता, प्र०सं० - डॉ० शम्भूनाथ सिंह - समकालीन प्रकाशन वाराणसी

भारतीय नवजागरण,प्रणेता तथा आन्दोलन, प्र० सं० - गौरीशंकर भट्ट - साहित्य सदन देहरादून

भारत का संविधान : एक परिचय सातवाँ सं० - डी०डी० बसु (अनुवादक - ब्रजकिशोर शर्मा)- प्रेसहाल आफ इंडिया नयी दिल्ली

भारत की राजनीतिक प्रणाली, प्र०सं० - कृष्णकान्त मिश्र - हिन्दी माध्यम मण्डल हिन्दी विश्वविद्यालय दिल्ली

भारत चीन और उत्तरी सीमायें,प्र०सं० - डॉ० राममनोहर लोहिया - नवहिन्द प्रकाशन, हैदराबाद

भारतीय अर्थव्यवस्था, छब्बीसवाँ सं० - रूद्र दत्त एवं के०पी०एस० सुन्दरम - ए० चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड दिल्ली

भारतीय अर्थव्यवस्था, न० सं० - मिश्र एवं पुरी - हिमालय पब्लिशिंग हाउस मुम्बई - 400004

भाषा और संवेदान, तृ०सं० - डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी - लोकभारती इलाहाबाद

महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी जागरण, प्र०सं० - रामविलास शर्मा - राजकमल प्रकाशन दिल्ली

मध्य युगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति - झारखण्ड चौबे

मीरा का काव्य, प्र०सं० - विश्वनाथ त्रिपाठी - वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली

युवा राजनीति श्रीनाथ शर्मा

रीति विज्ञान , प्र०सं० विद्या निवास मिश्र - राधाकृष्ण प्रकाशन

लम्बी कविता का रचना विधान - सं० नरेन्द्र मोहन

विद्रोह क्या है ? {रजनीश का व्याख्यान} प्र०सं० - सं० स्वामीयोग चिन्मय - जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन बम्बई

विद्रोह और साहित्य, प्र०सं० - नरेन्द्र मोहन, देवेन्द्र इस्सर - साहित्य भारती दिल्ली

वैष्णव भक्ति आन्दोलन का अध्ययन, प्र०सं० - डॉ० मलिक मुहम्मद - राजपाल एण्ड संस दिल्ली

विचार कविता की भूमिका - सं० नरेन्द्र मोहन, महीप सिंह

समकालीन कविता की भूमिका, प्र०सं० - विश्वम्भरनाथ उपाध्याय - दिमैकमिलन कं० लि० दिल्ली

सर्वेश्वर एवं उनकी कविता, प्र०सं० - कृष्णदत्त पालीवाल - लिपि प्रकाशन दरियागंज दिल्ली

समकालीन सिद्धान्त और साहित्य, प्र०सं० - विश्वम्भरनाथ उपाध्याय - लिपि प्रकाशन दरियागंज दिल्ली

सर्वेश्वर का काव्य : संवेदना एवं सम्प्रेषण - डॉ० हरिनारायण शर्मा - पंचशील प्रकाशन जयपुर

समकालीन कविता का परिप्रेक्ष्य, प्र०सं० - मदन गुलाटी - इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन दिल्ली

साठोत्तरी हिन्दी कविता : परिवर्तित दिशायें, प्र०सं० - विजयकुमार - प्रकाशन संस्थान दिल्ली

समकालीन परिवेश और नवलेखन, प्र०सं० - डॉ० शिव प्रसाद सिंह - लोकभारती इला०

समकालीन कविता में जनवादी चेतना, प्र०सं० - डॉ० नकछेद - संजय प्रकाशन वाराणसी

साठोत्तरी हिन्दी कविता में जनवादी चेतना, प्र०सं० - नरेन्द्र सिंह - वाणी प्रकाशन दिल्ली

साठोत्तरी हिन्दी कविता की प्रवृत्तियाँ, सं० 1987 - डॉ० नीलकुसुम - किताब महल इलाहाबाद

संस्कृत हिन्दी कोश, द्वि०सं० - वामन शिवराम आप्टे - मोतीलाल बनारसीदास पब्लि० दिल्ली

सात क्रान्तियाँ - डॉ० राममनोहर लोहिया

साहित्य और आधुनिक बोध, प्र०सं० - देवेन्द्र इस्सर - साहित्य भारती दिल्ली

सौन्[illegible] के तत्व, प्र०सं० - कुमार विमल - राजकमल दिल्ली

सन् साठ के बाद हिन्दी कविता - सं0 वचनदेव कुमार

हिन्दी साहित्य का इतिहास, द्वि0सं0 - डॉ0 नगेन्द्र - नेशनल पब्लिशिंग हाउस नयी दिल्ली

हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्र0सं0 - रामरतन भटनागर - साथी प्रकाशन सागर

हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - काशी नागरी प्रचारिणी सभा

(ग) शब्द - कोश

बृहत् कोश सप्तम् सं0 - सं0 कालिका प्रसाद - ज्ञान मण्डल लि0 वाराणसी

संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर - नवम् सं0 - सं0 रामचन्द्र वर्मा - नागरी प्रचारिणी सभा काशी

(घ) पत्र-पत्रिकायें

आलोचना

अवकाश

आजकल

वाम

निषेध

शुरुआत

श्मशानी पीढ़ी

दिनमान

रविवार

सेमिनार

स्वतन्त्र भारत

क ख ग

परिवेश

लहर

साठोत्तरी कविता

विशाल भारत

ज्ञानोदय

युयुत्सा

साम्य